ब्रजेश्वर वर्मा

सूरदास

H
811.22
Su 77 S

H
811.22

राष्ट्रीय जीवन-चरित माला

सूरदास

व्रजेश्वर वर्मा

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

Library IIAS, Shimla
H 811.22 Su 77 S
00091309

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 91309
Date 23-2-99

H
811.22
Su77S

पहला संस्करण 1969 (शक 1890)
छठवीं आवृत्ति 1990 (शक 1912)
© व्रजेश्वर वर्मा, 1969
रु. 8.50
SURDAS (*Hindi*)
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित।

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
1.	आविर्भाव	1
2.	जन्म और आरंभिक जीवन	6
3.	युग और परिस्थितियां	10
4.	सूरदास की युग-चेतना	17
5.	श्रीनाथजी के मंदिर में—वल्लभाचार्य के साथ	24
6.	गुसाईं विट्ठलनाथ का साथ—भक्ति और काव्य का प्रसार	30
7.	ख्याति और मान्यता	36
8.	मतभेद की कुछ बातें	46
9.	भक्ति की चरितार्थता और गोलोक-प्रवेश	53
10.	सूरदास की रचना	61

1. आविर्भाव

आगरा-मथुरा के बीच, वर्तमान मोटर-रोड के रास्ते, आगरा से लगभग 20 कि॰मी॰ दूर, यमुना का एक साधारण-सा कच्चा घाट है जिसका उपयोग केवल पैदल यात्रियों और पशुओं के लिए होता है। आसपास के लोग इसे गऊघाट कहते हैं। इस घाट के निकट एक कुटिया है जिसे सन् 1961 ई॰ में आगरा के कुछ साहित्य-प्रेमियों ने सूर-कुटी के रूप में पहचाना था।

क्या यह वही गऊघाट है जहां, कहा जाता है, प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य महाप्रभु वल्लभ ने सूरदास को दर्शन दे कर उन्हें अपने मत, पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया था और जिसके फलस्वरूप सूरदास की जीवनधारा एक ऐसी दिशा में मुड़ गई थी जहां प्रेम, सौन्दर्य, और आनंद का अनंत सागर लहराता है? प्रसिद्ध रहा है कि गऊघाट, जहां सूरदास को वल्लभाचार्य द्वारा प्रेम-प्रधान भक्ति का वरदान मिला था, आगरा और मथुरा के बीचों-बीच था। यद्यपि आगरा और मथुरा के बीच की दूरी 56-57 कि॰मी॰ है, और इस कारण उपर्युक्त गऊघाट इन दो नगरों के ठीक बीचों-बीच नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसके अतिरिक्त आगरा और मथुरा के बीच किसी अन्य घाट का पता नहीं लगा, इसलिए इसी गऊघाट को उक्त ऐतिहासिक महत्त्व मिलने लगा है।

कहा जाता है, मध्ययुग में इस गऊघाट का बहुत महत्त्व था। यमुना में चलने वाली नावें यहां रुकती थीं, इस घाट से यमुना को पार करने वाला एक व्यापारिक थल-मार्ग भी था जिस पर भारी यातायात होता था। परन्तु इस कथन को प्रमाणित करने के लिए इस घाट पर या उसके आसपास अब भौतिक अवशेष नहीं मिलते। जो हो, अन्यथा प्रमाण के अभाव में, यह मान सकते हैं कि सूरदास की आरंभिक तपोभूमि तथा बोधभूमि यही गऊघाट है।

कहा गया है कि सूरदास इस घाट पर अनेक सेवकों के साथ रहते थे। वे 'स्वामी' कहलाते थे और उनका बड़ा सम्मान था, उनकी उच्च भक्ति-भावना और संगीत-विद्या की खूब प्रसिद्धि थी। अपने सेवकों के बीच भक्ति-भजन और उपदेश-वार्ता का आनन्द लेते-देते स्वामी सूरदास को गऊघाट पर अनेक वर्ष बीत गए होंगे, जब यमुना के रास्ते नाव से ब्रज की यात्रा पर जाते हुए, संभवतः वल्लभाचार्य ने सूरदास स्वामी का नाम सुना होगा और वे उनसे मिलने के लिए गऊघाट पर रुक गए होंगे। महाप्रभु का निवास-स्थान अरइल नामक गांव था जो आगरा से 450 कि॰मी॰ प्रयाग के समीप, यमुना के दूसरे किनारे पर, स्थित है। यहीं से वे अपने इष्टदेव श्रीनाथ जी के दर्शन करने तथा उनके मंदिर की व्यवस्था करने ब्रज जाया करते थे। अनुमान किया गया है कि अपनी तीसरी ब्रज-यात्रा में उन्होंने सूरदास को अपने पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया था। उस समय उनकी अवस्था लगभग 31 वर्ष की थी। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य और सूरदास समवयस्क थे तथा सूरदास उनसे केवल दस दिन बाद जन्मे थे। यदि यह सच है, तो यह एक रोचक संयोग था कि आचार्य वल्लभ को अपने मत का प्रसार करने के लिए एक समान-वय तरुण शिष्य मिल गया और सूरदास को एक ऐसा गुरु प्राप्त हो गया जिसकी कृपा से नवयौवन की अवस्था में ओढ़े हुए दैन्य-वैराग्य को उतार कर वे जीवन और जगत के उस सौन्दर्य और आकर्षण को फिर देख सके जिसकी ओर से उन्होंने सदा के लिए आंखें मोड़ ली थीं — वे सूरदास बन गए थे।

वल्लभ और सूर की इस प्रथम भेंट का वर्णन पुष्टिमार्ग के साहित्य 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अन्तर्गत सूरदास की वार्ता में बड़े रोचक ढंग से किया गया है। पुष्टिमार्ग के इतिहास की दृष्टि से

तो इसका महत्त्व है ही, मध्य युग के सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से भी इसे अद्वितीय महत्त्व की घटना कहा जा सकता है, क्योंकि पुष्टिमार्ग को ही सूरदास नहीं मिले, बल्कि काव्य, मनीषा और संस्कृति को अभिनव सुषमा और ऐश्वर्य देने वाले एक ऐसे भक्त कवि की उपलब्धि हुई जिसकी समता करने वाला कोई नहीं है। वल्लभाचार्य के दर्शन और उनकी प्रेरणा से सूरदास के जीवन-क्रम में क्या परिवर्तन आया इसका उल्लेख करने से पहले कवि और भक्त के रूप में सूरदास के आविर्भाव से संबधित कुछ और लोक-प्रचलित किंवदंतियों का संकेत करना अनुचित न होगा।

सर्व-साधारण में प्रसिद्ध है कि सूरदास अपने आरंभिक जीवन, अर्थात तरुणाई में किसी रूपवती स्त्री पर इतने मुग्ध हो गए थे कि उन्हें स्वयं स्त्री द्वारा अपनी आंखों में सलाखें डलवा कर अंधा बनना पड़ा। क्या सूरदास ने आंखों की सुर्वासना को सदा के लिए विदा करने के उद्देश्य से आंखें फुड़वाना उचित समझा या वह नव-यौवना इतनी सुंदर थी कि उसे देखने के बाद वे किसी अन्य सुंदरता को देखना ही नहीं चाहते थे? कौन कह सकता है? सुंदरता की सीमा वह तरुणी भले ही न हो, साक्षात श्रीकृष्ण भगवान तो सुंदरता की सीमा हैं ही! सूरदास चाहे जिस तरह अंधे हो गए हों, कहा जाता है, वे एक बार किसी अंधे कुएं में गिर गए। निर्जन जंगल के अंधे कुएं में से उन्हें कौन निकालता? परन्तु अशरण-शरण भगवान भक्तों का उद्धार करते ही हैं। सूरदास को भी स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने बाँह पकड़ कर अंधे कुएं में से बाहर निकाल कर खड़ा कर दिया। यही नहीं, उन्हें आंखों की जोत भी दे दी। सूर ने देखा कि उनके सामने जगत की संपूर्ण सुंदरता साकार खड़ी है। आंखों ने रूप, रेखा, रंग की ऐसी चकित कर देने वाली सुषमा क्या कभी पहले देखी थी? पृथ्वी और आकाश के सुन्दर से सुन्दर पदार्थ भी उसकी तुलना नहीं कर सकते। सुंदरता की इस चरम सीमा के आगे किसकी आंखें ठहर सकती हैं? सूर ने भी भगवान से यही वर मांगा कि मुझे फिर वही अंधता मिल जाए जिससे संसार के नश्वर आकर्षण को कभी न देख सकूं और इसी अपार सौन्दर्य-राशि को सदा-सर्वदा अपनी बंद आंखों में बसाए रहूं। कहते हैं, भगवान ने सूर की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उनकी सांसारिक अंधता उन्हें वापस करते हुए वे उनसे अपना हाथ छुड़ा कर चले गए — अंतर्धान हो गए। प्रसिद्ध है कि सूर ने उन्हें आत्म-विशवास के साथ चुनौती दी कि भले ही तुम हाथ छुड़ा कर चले जाओ, क्योंकि मैं निर्बल हूं, परन्तु अगर तुम मेरे हृदय में से जा सको तब मैं जानूं कि तुम बड़े मर्द हो:

हाथ छुड़ाए जात हौ, निबल जानि कै मोहि।
हिरदे तें जब जाइ हौ, मरद बदौंगो तोहि।।

भगवान भक्तों की ऐसी चुनौतियां स्वीकार नहीं करते, भक्तों की जीत में ही उन्हें खुशी होती है। यह असंभव था कि सूरदास के हृदय से वह माधुरी-मूर्ति कभी एक क्षण को भी अलग होती।

जन-साधारण की श्रद्धा से उपजी और लोगों के मन और मुंह में बसी हुई इन कहानियों पर आज, तथ्यों की पूजा की दुनिया में, विश्वास नहीं किया जाता। सूरदास की सांसारिक जीवनी की खोज करने वाले विद्वान कहते हैं कि ये कहानियां वल्लभ के शिष्य पुष्टिमार्गीय सूरदास की नहीं, बल्कि और-और सूरदासों की हैं — बिल्वमंगल सूरदास की या सूरदास मदनमोहन की। कौन

जाने? परन्तु आज का तथ्य-पूजक इतिहास क्या सूरदास के उदय की उस पुष्टिमार्गीय कहानी को इतिहास मानेगा, जिसे हमने आरंभ में प्रामाणिक-जैसे रूप में दिया है और जिस पर सूरदास के खोजी विद्वानों की आस्था जम-सी गई है? सूरदास के उदय की वह धर्मगुरुओं के मुख से कही गई वार्ता और ये लोक-मन में बसी और लोक-मुख से कही गई लोक-वार्ताएं तथ्यों का न सही, भक्त और कवि सूरदास के आविर्भाव संबंधी सत्य के किसी न किसी अंश का उद्घाटन तो करती ही हैं। सूर की आँख सुंदरता की परख में अद्वितीय है, इससे कौन इंकार कर सकता है? साधारण आँखों से देखी जानेवाली ऊपर-ऊपर की सुंदरता के भीतर सुंदरता के तत्त्व की सूक्ष्म मार्मिकता उनसे अधिक और कौन पहचान सकता है? इसलिए, अगर उनकी आँख किसी परम लावण्यमयी तरुणी पर अटक गई और उसमें उसे ऐसा कुछ दिखाई दिया जिसे देखने के बाद संसार के किसी नश्वर सौन्दर्य को देखने की इच्छा ही न रहे तो कौन-सा आश्चर्य है? तथ्य कुछ हो, लोक-मन को तृप्ति देने वाला सत्य तो इसमें है ही। दुनिया जानती है कि सूर आँखों से अंधे थे, परन्तु दुनिया यह भी मानती है कि वे प्रज्ञा-चक्षु थे — उनकी हिये की आँखों में वह ज्योति थी जो अन्धकार-ग्रस्त संसार को प्रकाश-पुंज से भर सकती थी। सूर ने जान लिया था कि वह ज्योति संसार के क्षण-भंगुर आकर्षणों के लोभ को सदा से लिए विदा कर देने पर ही मिल सकती है। उस ज्योति को अर्जित करके ही तो सूरदास सूरदास बने थे। अतः उनके आविर्भाव की व्याख्या इस मनगढ़ंत कहानी से भी होती है।

इसी प्रकार संसार-रूपी अन्धे कुएं में पड़े हुए पीड़ित मानव के उद्धार का संकेत करनेवाली वह कहानी जिसमें सूरदास द्वारा भगवान श्रीकृष्ण की असीम भक्तवत्सलता के साथ-साथ उनकी लोक-विमोहन रूप-राशि का साक्षात अनुभव प्राप्त करने की लोक-कल्पना गढ़ी गई है, कृष्ण की लीला का वर्णन करनेवाले भक्त कवि के प्रेरणा-स्रोत का ही तो उद्घाटन करती है। कहानी में वर्णित घटना को तथ्य मानने वाले आज उस पर आग्रह नहीं कर सकते। परन्तु यह कौन न मानेगा कि भगवान श्रीकृष्ण ने ही सूर का उद्धार किया था और उन्हीं की असीम कृपा से वे उस परम सौंदर्य का दर्शन कर सके थे, जिस पर संसार का समस्त सौंदर्य निछावर है?

धर्म-गुरुओं की वार्ता में वर्णित सूर के आविर्भाव की घटना के विषय में पंडितों को संदेह नहीं हुआ। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि पुष्टिमार्ग जैसे समर्थ और सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदाय में मान्य वार्ता — 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के बहुत प्राचीन रूप से, शायद मूल रूप में इन वार्ताओं के कर्ता या वक्ता महाप्रभु वल्लभ के पौत्र गुसांई गोकुलनाथ (1552-1640 ई०) के समय से, यह कहानी सुरक्षित रही है। दूसरे, इसमें बड़े नाटकीय, किन्तु तर्कसंगत ढंग से बताया गया है कि किस प्रकार सूरदास ने निपट शुष्क, दीनतापूर्ण वैराग्य के मार्ग को छोड़ कर वह मार्ग अपनाया जिस पर चलने से इंद्रियों के सहज आकर्षण को दबाने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उन्हें अधिक से अधिक सक्रिय और उदात्त होने का अवसर मिलता है। प्रेम, सौंदर्य और आनंद के अद्वितीय कवि के रूप में प्रकट होने के सत्य का उद्घाटन इस पुराण-वार्ता से अवश्य हुआ है। यदि हम यह कहें कि इसे आज के अर्थ में ऐतिहासिक तथ्य नहीं कह सकते तो कोई हर्ज नहीं है। कहानी बड़ी युक्ति-युक्त है।

अरइल से ब्रज जाते हुए वल्लभाचार्य संभवतः सूरदास से मिलने के ही उद्देश्य से गऊघाट पर

उतरे, क्योंकि यदि यह उद्देश्य न होता तो वे 450 कि॰मी॰ से कुछ अधिक की यात्रा कर चुकने के बाद 35-36 कि॰मी॰ और चल कर, अपने गंतव्य गोकुल-गोवर्धन में पहुंचकर ही रुकते। विरागी स्वामी का जीवन बिताते हुए सूरदास भी अपने समय के सबसे महान आचार्य के नाम और यश से अवश्य परिचित रहे होंगे। उन्होंने अवश्य सुन रखा होगा कि एक कृष्ण-भक्त तैलंग ब्राह्मण के इस पुत्र ने काशी में रहते हुए तेरह वर्ष की अवस्था में ही समस्त वेद, वेदांग, पुराण आदि का अध्ययन कर लिया, जब वह चौदह वर्ष का हुआ तभी श्री गोवर्धननाथ ने गोवर्धनगिरि पर प्रकट होकर उसे दर्शन दिए और उसने उन्हें वहीं एक मंदिर में स्थापित किया तथा वह अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता और वाणी के बल पर जगद्गुरु शंकराचार्य की तरह दिग्विजय को निकल पड़ा है। अतः ज्यों ही सूरदास को अपने शिष्यों और सेवकों के द्वारा मालूम हुआ कि आचार्य जी घाट पर पधारे हैं, त्यों ही उनके मन में दर्शन की लालसा उमड़ी। जब सेवकों ने बताया कि आचार्य जी स्नान-ध्यांन और भोजन-विश्राम कर गद्दी पर विराजमान हो गए हैं, तब सूरदास भी उनके दर्शन के लिए आए। आचार्य जी के सम्मुख भक्तों, प्रशंसकों और धर्म-प्रेमियों का समूह जुड़ गया होगा। इसी समूह में सूरदास भी आ कर मिल गए होंगे। सूरदास का व्यक्तित्व प्रभावशाली था। उनके आते ही आचार्य जी के साथ-साथ भगवत-भक्तों का संपूर्ण समाज उनकी ओर आकृष्ट हो गया होगा। सभी जानते थे कि सूरदास केवल भक्त और महात्मा ही नहीं, बड़े अच्छे कवि और गायक भी हैं। अतः यह स्वाभाविक था कि आचार्य जी उनसे कुछ सुनाने का अनुरोध करते। आचार्य जी के अनुरोध पर सूरदास ने निम्नलिखित पद सुनायाः—

प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तौ जनमत ही कौ।
बधिक, अजामिल, गनिका तारी और पूतना ही कौ।
मोहिं छांड़ि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यों जी कौ?
कोउ न समरथ अघ करिवै कौ, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितन में, मोहूं तै को नीकौ।

पतित-पावन भगवान के विरुद की याद दिलाते हुए उद्धार की अपनी योग्यता प्रमाणित करने में सूरदास ने जो विनयशीलता और आत्महीनता प्रकट की है वह किसी भी भक्त के लिए स्पर्धा का विषय हो सकती है। सूरदास अपने को पापियों का श्रृंगार कहते हैं। वे दृढ़ विश्वास के साथ कहते हैं कि मेरे बराबर कभी कोई पापी हुआ ही नहीं, परन्तु सबसे बड़ा पापी होते हुए भी मेरा उद्धार नहीं हुआ, यह देख कर मुझे पापियों के समाज में लज्जित होना पड़ रहा है। भाव और संगीत की सरसता तथा अनुभूति की गंभीरता ने श्रोताओं को निश्चय ही मुग्ध किया होगा। इसी कारण सूरदास को यह दूसरा पद और सुनाना पड़ाः—

हरि हौं सब पतितन कौ नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी और नहीं कोउ लायक।
जो प्रभु अजामील कौ दीन्हौं सो पाटौ लिखि पांऊ।
तो बिस्वास होइ मन मेरे औरौ पतित बुलाऊं।

बचन बांह लै चलौं गांठि दै, पाऊं सुख अति भारी।
यह मारग चौगुनौ चलाऊं, तौ पूरौ व्यौपारी।
यह सुनि जहां तहां तैं सिमिटैं, आइ होंइ इक ठौर।
अब कै तौ आपुन लै आयौ, बेर बहुर की और।
होड़ा-होड़ी मनहिं भावते किए पाप भरि पेट।
ते सब पतित पाय तर डारौं यहै हमारी भेंट।
बहुत भरोसौ जानि तुम्हारौं, अघ कीन्हें भरि भांडौ।
लीजै बेगि निबेरि तुरत हीं सूर पतित कौ टांड़ौ।।

सूर के ये, गहरी संवेदना से भरे पद सुन कर वल्लभाचार्य, उनकी मंडली के सदस्य तथा अन्य श्रोतागण निश्चय ही मुग्ध हुए होंगे तथा वल्लभाचार्य को सूरदास के परम भगवदीय होने का प्रमाण मिल गया होगा। तभी तो उन्होंने सूर के भाव को अपनी भावना के अनुरूप मोड़ कर, उन्हें श्रीकृष्ण की लीला का वर्णन करने की प्रेरणा देने का निश्चय किया। इसी निश्चय के अनुसार उन्होंने सूर से कहा कि तुम सूर (शूर) हो, तुम क्यों ऐसी दीनता दिखाते हो, 'घिघियाते' क्यों हो? तुम्हें तो भगवान की लीला का वर्णन करना चाहिए। सूरदास ने अपनी सहज विनम्रता के साथ उत्तर दिया कि मैं तो लीला के बारे में कुछ जानता नहीं हूँ। इस पर आचार्य जी ने उन्हें स्नान करके दुबारा आने की आज्ञा दी। स्नान करके वापस आने पर आचार्य जी ने सूरदास को विधिवत् दीक्षा दी — उन्हें श्रीकृष्ण भगवान का नाम सुनाया, समर्पण कराया और मंत्र दिया। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होते समय गुरु के समक्ष भक्त तन, मन, धन, सुत, कलत्र सभी को भगवान में समर्पित कर देता है और संपूर्ण भाव से 'श्रीकृष्ण शरणं मम' का व्रत ले लेता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण की शरण में जाकर सूरदास को निर्भय और निर्द्वन्द होने का आश्वासन मिल गया। ऐसा नहीं है कि इस दीक्षा के पूर्व सूरदास सर्वात्म भाव से भगवान को समर्पित नहीं थे। सूरदास द्वारा सुनाए गए उपर्युक्त पद ही उनके अहं के संपूर्ण विसर्जन और अनन्य भाव की शरणागति के प्रमाण हैं। वास्तव में वल्लभाचार्य के सर्वभाव से सर्मपण का तात्पर्य यह था कि मनुष्य केवल प्रणत-भाव से अपना दैन्य ही क्यों प्रकट करे और अपने अनेकानेक अच्छे-बुर भावों, चंचल मन की सैकड़ों चित्त-वृत्तियों को हमेशा क्यों दबाए रहें? क्या उन्हें दवाए रखना संभव भी है? वल्लभाचार्य कदाचित यह मानते थे कि यह संभव नहीं है, इसलिए सर्वभाव से आत्म-समर्पण तो तभी पूरा होगा, जब मन और इंद्रियों की सभी वृत्तियों को भगवान को समर्पित कर दिया जाए। इस समर्पण के बाद रस, रूप, राग, गंध और स्पर्श के सांसारिक आकर्षण नहीं सताते, क्योंकि इन सब की तृप्ति परम आनंद रूप भगवान श्रीकृष्ण की लीला में हो जाती है। उसी लीला का मर्म समझाने के लिए आचार्य जी ने सूरदास को दीक्षा दी थी। फलस्वरूप कवि और भक्त सूरदास का नए रूप में आविर्भाव हुआ था।

सूरदास के जीवन में उनके इस आविर्भाव की घटना सबसे अधिक महत्त्व की है। इसके आगे उनके जन्म, बाल्यकाल आदि की घटनाएं भुला दी गई हैं। इसकी चिन्ता ही नहीं की गई कि वे कब और कहाँ पैदा हुए और किस प्रकार उनका आरंभिक जीवन बीता। फिर भी कुछ बातें जोड़ी गई हैं और आरंभिक जीवनी बनाने का यत्न किया गया है।

2. जन्म और आरंभिक जीवन

इस बात का कहीं कोई विवादरहित प्रमाण नहीं मिलता कि सूरदास कहाँ पैदा हुए थे। जहां कहीं भी वे पैदा हुए हों, उस स्थान से उनका कोई लगाव नहीं रहा। उनका लगाव तो केवल ब्रजभूमि—मथुरा, गोकुल, वृन्दावन आदि से ही था, जिनका उन्होंने अपनी रचना में बारबार उल्लेख और वर्णन किया है। यह उल्लेख और वर्णन भी सूरदास ने वास्तविक स्थान के यथातथ्य वर्णन के रूप में नहीं, बल्कि आदर्शीकरण के रूप में किया है। मथुरा, वृन्दावन, गोकुल आदि के निकटस्थ स्थलों की परिधि के बाहर केवल गऊघाट ही एक ऐसा स्थान है जिसका उनके जीवन के विषय में इतना महत्व हो गया है।

इस गऊघाट के निकट रूनकता, जिसे कुछ लोगों ने रेणुका क्षेत्र मानने का सुझाव दिया है, एक छोटा सा गांव है जो आगरा-मथुरा मार्ग के किनारे है। इस गांव को भी सूरदास की जन्म-भूमि कहा गया है। इस अनुश्रुति का आधार क्या है यह स्पष्ट नहीं है। हो सकता है गऊघाट की निकटता ही इसका कारण हो, क्योंकि गऊघाट के आस-पास इतने निकट कोई और आबादी नहीं है। परंतु 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' जिसके द्वारा गऊघाट को प्रसिद्धि मिली या उक्त वार्ता के परिवर्धित रूप और उसकी टीका में रुनकता का कोई उल्लेख नहीं है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के रचयिता या वक्ता, जैसा कि पहले कहा गया है, गुसाईं गोकुलनाथ माने गए हैं। गुसाईं गोकुलनाथ के बाद उनकी तीसरी और महाप्रभु वल्लभ की पांचवीं पीढ़ी में गुसाईं हरिराय (1590-1715 ई.) नामक एक बड़े पंडित और आचार्य हुए। उन्होंने वार्ता साहित्य को व्यवस्था दी, ग्रंथों के रूप में अलग-अलग किया, आधुनिक शब्दावली में कहें, तो उसका संपादन किया। गुसाईं गोकुलनाथ के मुख से सुनी हुई भक्त-वार्ताओं का, कहा जाता है, गुसाईं हरिराय ने तीन बार संपादन किया। अंतिम बार के संपादन में गुसाईं हरिराय ने वार्ताओं में बहुत से प्रसंग जोड़े और साथ ही उन पर 'भावप्रकाश' नाम की टीका भी लिखी। सूरदास की वार्ता में आरंभ में केवल 6 प्रसंग थे, हरिराय ने नए प्रसंग और जोड़ दिए तथा सभी प्रसंगों पर टीका भी जोड़ दी। इन जोड़े हुए प्रसंगों में सूरदास के जन्म और आरंभिक जीवन का भी विवरण दिया गया है।

गुसाईं हरिराय ने लिखा है कि सूरदास दिल्ली से चार कोस की दूरी पर सीही गांव में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के यहां पैदा हुए थे। परंतु दिल्ली से चार कोस की दूरी पर सीही नाम के गांव को सूरदास की जन्म-भूमि के रूप में अभी तक भली भांति पहचाना नहीं गया है। एक जनश्रुति के अनुसार सूरदास मदनमोहन, जो चैतन्य महाप्रभु के गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय के एक प्रसिद्ध भक्त-कवि और हमारे चरित-नायक सूरदास के समकालीन थे, दिल्ली के समीप किसी गाँव के निवासी थे। सीही या अन्य कोई गांव इन सूरदास मदनमोहन की जन्म या निवास-भूमि के रूप में भी नहीं खोजा गया है। संभव है, सूरदास के सौ-डेढ़-सौ वर्ष बाद गुसाईं हरिराय ने किसी प्रकार कहीं से यह जनश्रुति सुन ली हो कि सूरदास सीही ग्राम के निवासी थे। सीही नाम से थोड़ी समता वाले साही नाम के गांव को एक सज्जन ने सूरदास की जन्म-भूमि के रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव किया है। इस गांव की खोज का एक कारण गऊघाट और रुनकता की निकटता भी है। वास्तव में यदि गऊघाट को सूरदास की आरंभिक साधनास्थली मानें, और ऐसा न मानने का अभी

तक कोई विशेष कारण नहीं है, तो कह सकते हैं कि सूरदास का जन्म उसी के आस-पास किसी गांव में हुआ होगा। अथवा, यह भी संभव है कि वे दिल्ली के निकट किसी सीही नामक गांव से आकर मथुरा होते हुए गऊघाट पहुँच गए हों। गोस्वामी तुलसीदास के जन्म-स्थान के विषय में राजापुर और सोंरों के पक्ष-विपक्ष में जैसा प्रमाण और प्रतिप्रमाण आधारित मतभेद है, वैसा सूरदास के जन्म-स्थान के विषय में इसलिए नहीं उठ सका या उठाया जा सकता कि इस विषय में किसी प्रकार के प्रमाण मिलते ही नहीं और न मिलने कीं संभावना जान पड़ती है।

हरिराय ने लिखा है कि जन्म से सूरदास की आँखें नहीं थीं। भक्त का महातम ('माहात्मय') बढ़ाने के लिए हरिराय ने यहाँ तक कह दिया है कि उनके चेहरे पर आँखों का आकार तक नहीं था, केवल भवें थीं। इसीलिए वे 'सूर' थे, अन्धे नहीं थे। अन्धे होने के कारण उनके गरीब माता-पिता उनकी ओर से बहुत दुखी थे, उन्हें भार रूप मानते थे। हरिराय बताते हैं कि एक बार जब सूर छः वर्ष के शिशु थे, उनके पिता की मुहरें (सोने के सिक्के) जो उन्हें दान में मिली थीं, किसी तरह खो गईं। माता-पिता बड़े दुखी हुए। उनके दुःख को देख कर बच्चे को दया आ गई। उसने पिता के दुःख और अपने बंधन को काटने का उपाय सोच लिया। पहले उन्होंने पिता से वचन ले लिया कि मेरे बताने से अगर मुहरें मिल जाएं तो मेरे घर छोड़ कर चले जाने में कोई रुकावट नहीं होगी। और, उन्होंने खोई हुई मुहरें बता दीं। इस कहानी का मन्तव्य मध्ययुग के चमत्कार-प्रेमी सरल मनुष्यों के हृदय पर यह प्रभाव डालना तो है ही कि सूरदास जन्म से सिद्ध पुरुष थे, उनकी वैराग्य-वृत्ति सहज थी, साथ ही, इसमें यह भी दिखाया गया है कि संसार में माता-पिता भी स्वार्थ के साथी होते हैं। जब सूरदास के जादू से मुहरें मिल गई, तो माता-पिता का वात्सल्य प्रबल हो उठा। उन्होंने सूर को रोकना चाहा। परन्तु सूर तो पहले ही उनसे वचन ले चुके थे, वे नहीं रुके। छः वर्ष की शैशव अवस्था में सूर ने घर-बार छोड़ दिया। कदाचित वे इससे पहले भी छोड़ सकते थे। तब मां-बाप शायद उन्हें नहीं रोकते, क्योंकि अंधा पुत्र उनके किस काम का था?

छः वर्ष के सूर घर छोड़ कर सीही से चार कोस एक दूसरे गांव में, तालाब के किनारे रहने लगे। गांव वालों ने शायद उनके लिए झोपड़ी डाल दी होगी। यहां भी सूर ने एक चमत्कार दिखाया। गांव के जमींदार की कुछ गायें खो गई थीं। सूर ने उनका पता बता दिया। जमींदार इतना प्रसन्न हुआ कि उसने सूर के लिए एक अच्छी कुटिया बनवा दी। सगुन (शुभ शकुन, रहस्य) बताने की सूर की जन्मजात सिद्धि से तो उनका नाम उजागर हुआ ही, उनके दूसरे पैदायशी गुण, संगीत कला, से जन-समाज और भी उनकी ओर खिंचने लगा। भगवान के भजन में भक्ति के पद रचते और विविध राग-रागनियों में उन्हें गाते हुए, वे तालाब के किनारे अठारह वर्ष की उम्र तक रहे। यहीं पर उन्हें भगवान के अनन्य भक्त होने की ख्याति मिली और शायद वे स्वामी सूरदास नाम से पुकारे जाने लगे। स्वाभाविक है कि उनके अनेक चेले हो गए होंगे। अठारह वर्ष में अनेक सेवकों का स्वामी हो जाना मामूली बात नहीं है।

स्वामी सूरदास के मन मे सहज वैराग्य—इंद्रिय-निग्रह के साथ अपरिग्रह-दृढ़ होते हुए भी, संसार की माया—धन-संपत्ति-फिर भी उनके आस-पास उनके आश्रम में इकट्ठा हो गई। एक दिन अचानक उनका मन फिर उचटा। सारी धन-संपत्ति उन्होंने घर वालों में बांट दी। घर वालों में संपत्ति बाँटने की बात कह कर गुसाईं हरिराय ने शायद अनजाने ही यह बताया है कि घर वालों का मोह

छूटते-छूटते ही छूटता है। ग़रीब माता-पिता के संकट का कुछ निवारण तो हुआ ही होगा और साथ ही सूर के प्रति उनके मन में वात्सल्य भी और अधिक उमड़ा होगा। परन्तु सूर तो माया-मोह को तिलांजलि देने का आदर्श दिखाने को पैदा हुए थे। उन्होंने अपनी लाठी ली—लाठी अंधों का सहारा होती है, और आश्रम छोड़ कर निकल पड़े। जैसा होता है, उनके कुछ सेवक उनके साथ हो लिए, कुछ वहीं माया में अटक गए।

वहां से चल कर सूरदास मथुरा के विश्रांत घाट पर आ कर रुके। मथुरा ही तो उनके गांव के समीप प्रसिद्ध तीर्थ था, अंधा कवि और गायक भक्त और कहां जाता? श्रीकृष्ण भगवान की जन्म-भूमि, मथुरा से अधिक अच्छा भगवत-भजन का और कोई स्थल मिल ही नहीं सकता था। परन्तु गुसाईं हरिराय कहते हैं कि वे मथुरा में नहीं रुके! वास्तव में उन्हें श्रीकृष्ण की लीला-भूमि में तो गुरू की कृपा से ही बसने का सौभाग्य मिलना था। लीला का परिचय—उसका भील भांति अभिनिवेश हुए बिना लीला-भूमि में रहने का लाभ ही क्या? परन्तु हरिराय ने लिखा है कि सूरदास मथुरा में इसलिए नहीं रुके कि उन्होंने देखा कि लोग उनकी ओर इतने अधिक खिंच रहे हैं कि बेचारे पंडावृत्ति पर जीने वाले 'मथुरिया' (मथुरा के) चौबे चिंतित हो उठे हैं। पर-पीड़ा को गहराई से अनुभव करने वाले तरुण महात्मा को लगा कि यहां पर मेरे रहने से मेरा 'माहतम' (महात्मय) बढ़ जाएगा और चौबे महाराजों की आजीविका पर इससे बुरा असर पड़ेगा। इसलिए उन्होंने फिर लाठी उठाई और जो सेवक साथ चले उन्हें लेकर, पूर्व की ओर आगे बढ़े। मथुरा से चल कर वे गऊघाट पर रुके और वहीं उन्होंने अपना स्थल बनाया।

गऊघाट की कहानी हम पहले कह चुके हैं। अगर गऊघाट वैसा ही राजमार्ग का घाट था, जैसा कि हमने अनुमानों के आधार पर बताया है, तो संभव है वहां, यातायात और व्यापार के अतिरिक्त, भगवत-भजन के भी कुछ ठिकाने रहे हों। या, यह भी संभव है कि वह अधिकांश में निर्जन वन का ही भाग हो और सूरदास ने माया-मोह से, जहां तक हो, दूर रहने के उद्देश्य से उसे चुना हो। परन्तु विधि का विधान! सूरदास का स्थल न तो निर्जन रहा, क्योंकि उनके गायन-भजन की कीर्ति के फैलने से उनकी सेवक मंडली बढ़ गई, और न वे अलग-थलग रह सके, क्योंकि उनके समय के सबसे महान आचार्य ने उन्हें ढूँढ़ लिया और उनकी जीवन धारा को एक नई दिशा में मोड़ दिया।

गुसाईं हरिराय ने चाहे जिस प्रकार उपयुक्त वार्ता संकलित की हो या रची हो, इसमें बिल्कुल सन्देह नहीं कि इस कहानी में सूर के जन्म और उनकी सहज वैराग्य-वृत्ति के विकास का जो क्रम दिया गया है, वह भक्तों के लिए, वास्तव में मध्ययुग के चमत्कार प्रेमी भक्त-हृदय जन-साधारण के लिए, अत्यन्त तृप्तिदायक और विश्वास-योग्य है। यही नहीं, आज के सहृदय आलोचक को भी इस कहानी में संगति मिल जाती है। सूर जैसे निरीह, निरभिमान, सहज-विरागी और भगवान की भक्ति को समर्पित महात्मा के विषय में, मध्ययुग के मनुष्य के मन में इस प्रकार की भावना दृढ़ होना स्वाभाविक ही है। भले ही आज हम न मानें कि सूर जन्मांध थे, उसे नेत्रों का ठीकरा (गड्ढा) भी नहीं था, भले ही—हमें उनकी करामात दिखाने की शक्ति मर विश्वास न हो और यह विश्वास न हो कि इतनी छोटी उम्र में उन्होंने घर-बार छोड़ा परन्तु जब हम सूर के काव्य को पढ़ते हैं, भावों की सूक्ष्मता में उनकी गहरी पैठ देखते हैं और उनके भक्ति-भाव की असाधारणता गंभीरता को नापने में जब हमारे सारे मान-दंड हाथ से छूट जाते हैं, तब हमें श्रद्धालु, चमत्कार-प्रेमी, अद्भुत की रचना

करने में कल्पना की भाव-सम्मत उड़ान भरने वाले मध्ययुग के अपने पूर्वज की वात पर न तो आश्चर्य होता है और न अविश्वास। आज के ठोस तथ्यों के प्रेमी, इतिहास-खोजी हमें माफ करें!

हमने पहले कहा है कि गऊघाट पर जब सूरदास की गुरु वल्लभ से पहली भेंट हुई उस समय उन दोनों नवयुवा गुरु और शिष्य की उम्र 31 वर्ष की अनुमान की गई है। अनुमान यह किया गया है कि वल्लभाचार्य का विवाह हो चुका होगा, नहीं तो वार्ता में यह नहीं कहा जाता कि गऊघाट पर रुकने के समय वल्लभाचार्य स्नान-भोजन के बाद गद्दी पर विराज़मान हुए, क्योंकि ब्रह्मचारी का गद्दी पर बैठना वर्जित है। आचार्य जी का विवाह 1503-4 ई. के आसपास हुआ था। इसके बाद ब्रज की तीसरी यात्रा उन्होंने 1509 के आस-पास की थी। आचार्य जी का जन्म वैसाख कृष्ण दसवीं, सवंत 1535/1478 ई. को हुआ था। पुष्टिमार्ग की परम्परा में यह प्रसिद्ध है कि सूरदास का जन्म, उसी वर्ष वल्लभाचार्य के जन्म के दस दिन बाद, अर्थात बैसाख शुक्ल पंचमी, संवत 1535 वि. को हुआ था। पुष्टिमार्ग के मंदिरों में सूर की जन्म-जयंती भी गोपनीय रूप में इसी तिथि को मनाई जाती है— गोपनीय रूप में इसलिए कि भगवान या भगवान के समान गुरू के अतिरिक्त किसी मनुष्य की जन्म-जयंती मनाना वर्जित है। यदि पुष्टिमार्ग की यह अनुश्रुति मानें तो सूरदास ने वैसाख शुक्ल पंचमी, संवत 1535 को जन्म लिया था, उनका जन्म 1478 ई० में हुआ था। इस आधार के अलावा सूर की जन्म-तिथि जानने का और कोई स्रोत नहीं हैं जो इतना भी प्रामाणिक कहा जा सके। पहले उनका जन्म जिस आधार पर 1540 अनुमान किया गया था—और वह अनुमान दुर्भाग्यवश, प्रमादवश आज भी प्रचलित है, वह आधार ही अब प्रमाणहीन सिद्ध हो चुका है। सूरदास की तथा-कथित दो रचनाओं, 'साहित्यलहरी' और सूरसागर सारावली' के क्रमशः एक पद (सं. 109) और एक छन्द (सं. 1002) को मिला कर यह संवत 1540 निकाला गया था। अब यह मान लिया गया है कि दोनों के अर्थ करने में भूल हुई थी या कम से कम उनका अर्थ संदिग्ध है। अतः जब तक कोई और तथ्य सामने न आजाएं, जिनके आने की संभावना केवल वल्लभाचार्य के जन्म-समय की नई खोज के संदर्भ में हो सकती है, तब तक हम यह मान लेते हैं कि सूरदास का जन्म सन् 1478 ई. के आसपास हुआ, वे गऊघाट पर रहते थे, शायद दिल्ली के निकट सीही नामक गांव में, या संभव है कि गऊघाट के ही आस-पास किसी गांव में जन्में, बहुत छोटी उम्र में ही वे कुछ गरीबी, कुछ स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण सन्यासी हो गए और लगभग 31 वर्ष की युवावस्था में महाप्रभु वल्लभ ने उन्हें अपने वैष्णव संप्रदाय, पुष्टिमार्ग में मिला लिया। पुष्टिमार्ग के सिद्धांत मे सूरदास को पूर्णरूप से निष्णात करने और भगवान की लीला के गायन में लगाने के लिए महाप्रभु ने जो कुछ किया उसका वर्णन भी वार्ता में बड़ा रोचक है। परंतु उसे देने के पहले सूरदास के व्यक्तित्व को सराहने के लिए आवश्यक जान पड़ता है कि हम उनके समय की एक झांकी ले लें और विहंगावलोकन के रूप में यह समझने का यत्न करें कि जिस युग ने उन्हें जन्म दिया और जिसे उन्होंने प्रेरणा दे कर नव-जीवन का सन्देश दिया, वह युग कैसा था। यह हम आगे देखेंगे कि सूर शतायु होने के बाद गोलोकवासी हुए थे, परन्तु वह शती कैसी थी, पहले यह जानने की इच्छा स्वाभाविक है।

3. युग और परिस्थितियां

पीछे कह आए हैं कि सूर का जन्म 1478 ई० में हुआ था। 1478 से 1509 ई० का समय सूर के जीवन का आरंभिक निर्माण-काल है। इस 31 वर्ष के समय में सूर ने किस प्रकार विद्या प्राप्त की और ज्ञान का अर्जन किया इसे जानने का कोई साधन नहीं है। गुसाईं हरिराय ने जो भी बताया है, वह केवल यह प्रकट करता है कि सूर जन्म से ही पहुंचे हुए संत थे, उनमें ऐसी ईश्वरदत्त प्रतिभा और दैवी शक्ति का आभास था, जैसे उन्हें किसी प्रकार के शिक्षण और विद्यार्जन की आवश्यकता ही न रही हो। चमत्कारों के प्रेमी, मध्ययुग के मनुष्य के लिए यह विश्वास करना सहज था कि छः वर्ष की शिशु-अवस्था में चमत्कार-शक्ति के बल पर घर-बार छोड़ कर, बारह वर्ष तक तालाब के किनारे एक कुटी में भगवान का भजन करने वाला यह बालक दैवी शक्ति की आंतरिक प्रेरणा से ही बढ़ता और नाम कमाता गया। इस स्थिति में भक्त-हृदय श्रद्धालु और स्वार्थ-साधक लालची दोनों प्रकार के लोगों के साथ सूर का सम्पर्क में आना स्वाभाविक है। विरागी महात्माओं के पास हर तरह के लोग आते हैं और अपने-अपने भाव से अपने मन का संतोष प्राप्त करते हैं। सूर ने अपने आरंभिक जीवन में ही इन सामाजिक संपर्कों से संसार का यथार्थ अनुभव प्राप्त किया होगा। उनके अनुभव की गहराई, विस्तार और सूक्ष्मता की बात छोड़ कर अभी हमें यह देखना है कि सूर ने जिस काल में अपना सार्थक और युगप्रवर्तक जीवन बिताया वह युग कैसा था, उस समय राजनीति और संस्कृति, धर्म-कला और साहित्य का कैसा दौर था।

भारत के एकीकृत हिन्दु राज्य-साम्राज्य के काल को बीते बहुत दिन हो चुके थे। अन्तिम सम्राट हर्ष (मृत्यु सन् 647 ई०) को हुए साढ़े आठ सौ वर्षों का एक लम्बा युग बीत गया था। इस बीच सातवीं शताब्दी के मध्य से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी के अन्त तक की कहानी राजनीति की दृष्टि से देश के बिखरने, खंड-खंड होने, छोटे-बड़े राजाओं, ठाकुरों और सरदारों के झूठी मान-मर्यादा, शादी-ब्याह, जमीन-जायदाद, प्रभुता-अधीनता आदि के लिए लड़ने-मरने, लूट-खसोट करने, उदारता और विशाल-हृदयता, संकीर्णता और क्षुद्रता तथा त्याग-बलिदान और सर्वस्व अर्पण करने के आश्चर्यजनक साहसों के अद्भुत उदाहरणों की ही मिली-जुली कहानी है। इसी प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी मत-मतांतरों के अमर बेल की तरह बढ़ने, उलझने और जीवन के वृक्ष की वास्तविक हरियाली को सुखाते जाने की भी करुण कहानी है। पशु-बलि और कहीं-कहीं नर-बलि प्रधान शक्ति और शैव मतों के साथ बौद्ध मत के अन्तिम रूप — सिद्ध-साधना के तांत्रिक वामाचार और तदनंतर सुधार की आकांक्षा से उठे नाथ संप्रदाय के अलखवाद ने जन-मानस के धार्मिक विश्वास को भ्रम, संशय, विभाजन, असमंजस और अन्धविश्वास में डाल रखा था। धर्म बहुत मात्रा में तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, करामात और फलतः ऐसी क्रियाओं के अभ्यासी भले-बुरे लोगों के प्रति श्रद्धा-भक्ति का विषय बन गया था। दार्शनिक क्षेत्र में चिन्तन-मनन, जिज्ञासा और अन्वेषण की जगह अद्वैतवाद के ऊंचे आदर्श के नाम पर ढोंग-पाखंड ने ले ली थी। निषेध, निवृत्ति, त्याग और जीवन की शुष्क पावनता का प्रचारक जैन मत इस धार्मिक बिखराव में जमने का प्रयत्न अवश्य कर रहा था, परन्तु संभवतः उसकी ओर जन-आकर्षण अधिक नहीं था। तभी तो वह भी तंत्र-मंत्र के लोभ में पड़ गया।

परन्तु मनुष्य की रचना और निर्माण की जीवन को सुन्दर और आकर्षक बनाने की अंतः शक्ति

क्या बहुत दिनों तक दबी रह सकती है, विशेष रूप से उस समाज के मनुष्य की जिसके पीछे एक बहुत लम्बा, ऐश्वर्यशाली इतिहास हो? कैसा आश्चर्य है कि दसवीं से बारहवीं-तेरहवीं शताब्दियों के बीच की कला कृतियां धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से सर्जन और उत्थान के नहीं, ह्रास और पतन के युग की रचनाएं हैं, सामाजिक स्थिति के अवलोकन से भी यही सिद्ध होता है।

देश की जीवनी-शक्ति अब भी निष्क्रिय नहीं थी, अब भी उसमें उसी तरह उगने, उभरने, लहलहाने का दम था, जैसे ज्येष्ठ की गर्मी से जली-झुलसी घास में होता हैं। इस जीवनी-शक्ति को उभार कर ऊपर लाने में भारत के इतिहास की उस घटना का भी बहुत बड़ा हाथ था जिसने तेरहवीं शताब्दी से देश के धर्म, संस्कृति, कला, सभी क्षेत्रों में घनघोर उथल-पुथल, और विकट हलचल पैदा कर दी थी। वह घटना थी इस्लामी शासन, धर्म और संस्कृति का आक्रमणकारी प्रवेश। बारहवीं शताब्दी ईसवी बीत रही थी और दिल्ली-अजमेर, कालिंजर, कन्नौज, काशी और उसके पूर्व बौद्ध विहारों की भूमि से उन प्रतापी राजाओं का अस्तित्व सदा-सर्वदा के लिए विदा हो रहा था जिनकी वीरता, साहसिकता और गुण-ग्राहकता के गीत और काव्य अत्यंत उत्साहवर्धक, हैं, परन्तु साथ ही उनके नाम पर लगा कलंक कभी मिट नहीं सकता। क्षुद्र स्वार्थ, अहंकार, झूठी और संकुचित मान-मर्यादा की भावना ने कलह और फूट का ऐसा वातावरण बना दिया था कि 1193 से 1197 ई० के चार वर्षों में देखते-देखते ही सिंध-पंजाब से लेकर बिहार-बंग तक राज्य शासन ने भयंकर पलटा खाया। पृथ्वीराज चौहान और जयचन्द के राजमुकुट धूल में मिल गए, उनकी पारिवारिक बैर-विरोध और गृह-कलह की घृणित कहानी ही शेष रह गई। 1206 ई० में इसलाम का झंडा जो दिल्ली में जमा, उसकी आगामी साढ़े छः सौ वर्षों की कहानी एक ओर इतने विध्वंस, संहार, हाहाकार और अत्याचार की कहानी है कि उसके स्मरण मात्र से आज भी रोमांच हो जाता है, परन्तु दूसरी ओर उसमें ऐसी रचनात्मक सक्रियता नजर आती है कि लगता है कि जीवन की गति में बिजली दौड़ गई हो।

1206 ई० से 1526 ई० तक के पहले तीन सौ वर्ष तलवार के शासन के वर्ष हैं, जिनमें निर्माण की तुलना में विनाश ही प्रमुख है, और विनाश की प्रक्रिया बाहरी जीवन के क्रिया-कलाप को ही नहीं, अन्तर के विश्वासों और विचारों को भी तोड़ने-फोड़ने और उलटने-पलटने का अभियान चलाती दिखाई देती है। परन्तु उसके बाद के वर्षों में निर्माण की शक्तियां उत्तरोत्तर ऐसी प्रबल हो जाती हैं कि देश के इतिहास का एक नया स्वर्ण युग बन जाता है — कम से कम सौ वर्ष, अर्थात् सोलहवीं शताब्दी का काल भारत के विश्व-प्रसिद्ध गौरव और ऐश्वर्य का काल है। उसके गण्य-मान्य निर्माताओं में सूरदास का नाम प्रथम पंक्ति में लिखे जाने योग्य है।

सन् 1478 ई० में जब आगरा-मथुरा के निकट सूरदास का जन्म हुआ उस समय बहलोल लोदी का राज्य था और , यदि गुसाईं हरिराय के कथन पर विश्वास करें तो, 18 वर्ष की उम्र में जब वे आगरा के निकट गऊघाट पर आ कर रहने लगे, उस समय आगरा को राजधानी बनाकर सिकंदर लोदी शासन कर रहा था। सिकन्दर लोदी के ही शासन-काल में वे सन् 1496 ई० 1509 ई० तक 13-14 वर्ष, उसकी राजधानी से 20 कि.मी. दूर गऊघाट पर, भगवत-भक्ति करते, भजन रचते-गाते और सेवकों को उपदेश देते रहे। उधर लोदी सुलतानों का केन्द्रीय शासन कमज़ोर हो रहा था, उसकी सीमाएं घट रहीं थीं, मेवाड़ की शक्ति बढ़ रही थी और राणा सांगा आगरा तक अपनी

शक्ति का विस्तार करके पुनः केन्द्र में राजपूत राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे और इधर मथुरा-वृन्दावन में कृष्ण-भक्ति के व्यापक प्रचार-प्रसार की तैयारियां हो रही थीं। पीछे बता चुके हैं कि संन् 1492 ई॰ में गोवर्धन पर श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ था और उन्होंने सबसे पहले वल्लभाचार्य को दर्शन दिए थे। वल्लभाचार्य ने उन्हें उस समय गोवर्धन पर एक छोटे से मंदिर में प्रतिष्ठित किया था। सन् 1499 में अंबाला के सेठ पूरनमल के दान से श्रीनाथ जी के बड़े मंदिर का निर्माण आरंभ हुआ और 1509 ई॰ के आसपास जब वह पूरा हुआ तब श्रीनाथ जी को उसमें प्रतिष्ठित किया गया। इस समय तक वल्लभाचार्य अपने चार प्रमुख शिष्यों में तीन — कुंभनदास, सूरदास, और कृष्णदास को शरण में ले चुके थे और उन्हें श्रीनाथ जी की सेवा में लगा चुके थे।

'वल्लभ-दिग्विजय' नामक ग्रंथ में यह भी उल्लेख है कि सिकंदर लोदी के किसी कर्मचारी ने विश्रांतघाट पर एक ऐसा यंत्र लगा रखा था कि जो हिन्दू उसके नीचे से निकलता था वह मुसलमान हो जाता था। वल्लभाचार्य ने इसका काट करने के लिए नगर के द्वार पर एक ऐसा यंत्र बाँधा कि मुसलमान फिर हिन्दू होने लगे। इसका तात्पर्य यह है कि वल्लभाचार्य मुसलमानों को भी हिन्दू बनाते थे, अर्थात्, दीक्षा देते थे। उस समय सुलतानों की शक्ति इतनी क्षीण हो गई थी कि वे इसका दमन नहीं कर सकते थे। यही नहीं, यह भी कहा जाता है कि सिकंदर लोदी वल्लभाचार्य का बहुत सम्मान करता था और उसने उस समय के एक प्रसिद्ध चित्रकार 'होनहार' से आचार्य जी का एक चित्र बनवाया था। चित्र बनवाने का समय 1510 ई॰ ही है, जिसके आसपास वल्लभाचार्य और सूर की भेंट हुई थी। कैसा विचित्र संयोग था कि सुलतानों की राज्य-शासन की दुर्बलता, मेवाड़ की राजपूती शक्ति की प्रबलता और कृष्ण-भक्ति के देशव्यापी उपदेश की योजनाएँ — यह सब आगरा, मथुरा के आसपास घटित हो रहा था। सिकन्दर लोदी ने राज्य की शक्ति और उसका विस्तार बढ़ाने तथा दृढ़ता प्राप्त करने के लिए जो भी कुछ किया, वह उसके उत्तराधिकारी इब्राहीम लोदी के शासन काल में समाप्त-प्राय हो गया था। राणा सांगा ने उसे दो बार परास्त किया था। दुर्भाग्य ही था कि राणा सांगा आगरा अपने अधीन नहीं कर सके, वैसे आगरा की सीमा तो उन्होंने चाँप ही ली थी। उधर मथुरा-वृन्दावन में न केवल आचार्य वल्लभ द्वारा प्रतिष्ठित श्रीनाथ जी के मंदिर के अधीन कृष्ण-भक्ति और उसके प्रचार के माध्यम, साहित्य-संगीत तथा अन्य कलाओं के विकास का उपक्रम हो रहा था, बल्कि अन्य भक्ति-संप्रदाय भी यहीं पर केन्द्र स्थापित कर रहे थे। बंगाल के चैतन्य महाप्रभु (1499-1533 ई॰) के गोड़ीय वैष्णव शिष्य भी यहां आ चुके थे। उन्होंने आरंभ में श्रीनाथ जी के मंदिर पर ही अधिकार जमाने की चेष्टा की थी, जिसे प्रबंध और व्यवस्था में कुशल, कृष्णदास नामक वल्लभाचार्य के शिष्य ने विफल कर दिया। बंगाली वैष्णवों को उन्होंने बलपूर्वक उनकी झोपड़ियों में आग लगवा कर और लाठियों से मार कर भगा दिया और श्रीनाथ जी के मंदिर पर अपने संप्रदाय का एकाधिकार जमा लिया। बंगाली वैष्णवों ने फिर वृन्दावन में अपना मंदिर बनाया। 1525 ई॰ में, गुसाईं हित-हरिवंश ने अपने राधावल्लभी नामक संप्रदाय का मंदिर स्थापित किया। इसी के आस-पास संभवतः स्वामी हरिदास के टट्टी संस्थान की भी स्थापना हुई। निंबार्क और मध्व के सांप्रदायिक केन्द्र भी स्थापित हुए।

ठीक इसी समय दिल्ली-आगरा के केन्द्रीय राज्यशासन में द्रुतगति से उलट-फेर होने लगे थे। इब्राहीम लोदी के शासन की दुर्बलता, केन्द्रीय शक्ति की क्षीणता और राजनीतिक अव्यवस्था के

समाचार उत्तर-पच्छिम की ओर, हिंदूकुश दर्रे के पार, अफ़गानिस्तान, ईरान और मध्य एशिया तक पहुंचने लगे थे, जहां से भारत का युद्ध और मैत्री, दोनों प्रकार का संबंध प्राचीन काल से ही बराबर रहता आया था और जहां के युद्ध-प्रिय साहसिक विजेता, अनुकूल अवसर पा कर, हिन्दूकश दर्रे को पार कर आक्रमण करते आए थे। इस समय इस प्रकार का एक वीर पुरुष, बाबर था, जो तैमूर का वंशज और फ़रगाना राज्य का शासक था। 1526 ई० में उसने भारत पर आक्रमण किया, दिल्ली के पच्छिम पानीपत (कुरुक्षेत्र) के प्राचीन युद्ध-स्थल पर इब्राहीम लोदी को उसने पराजित किया और अपने को भारत का सम्राट घोषित करने की भूमिका बना ली। परन्तु वास्तव में सम्राट बनने के लिए बाबर को राणा साँगा के साथ सफल मोर्चा लेना था। 1527 ई० में आगरा से 23 मील दूर, सीकरी के पास, बाबर और राणा सांगा के बीच घनघोर युद्ध हुआ जिसमें बड़ी कठिनाई से बाबर विजयी हुआ। दुर्भाग्य से राजपूती शासन की पुनः स्थापना करने का स्वप्न पूरा नहीं हो सका। बाबर ने बादशाह (सम्राट) की पदवी धारण कर एक नए शासन की नींव डाली। आरंभ में भारत के हिन्दू और मुसलमान सभी उसके विरोध में थे, परन्तु बाद में नए शासन-तंत्र में कुछ ऐसी विशेषताएं दिखाई दी जिनके कारण ये बादशाह, जो मुग़ल बादशाहों के नाम से प्रसिद्ध हैं, पिछले मुसलिम शासकों, सुलतानों, की अपेक्षा कहीं अधिक लोकप्रिय हो गए। पिछले शासक केवल सैनिक बल पर शासन करते थे, मुग़ल बादशाहों ने जनता के हित में नागरिक प्रशासन का नया तंत्र चलाया। बाबर का शासन 1526 ई० से 1530 ई० तक केवल चार वर्ष चला। इन चार वर्षों में साम्राज्य का विस्तार भी हुआ और उसकी व्यवस्था भी दृढ़ हुई। परन्तु बाबर की मृत्यु के बाद उसके पुत्र हुमायूं को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। दस वर्ष के शासन के बाद, जिसमें साम्राज्य का विस्तार करने के लिए हुमायूं को अनेक युद्धों में व्यस्त रहना पड़ा, 1540 से 1555 ई० तक उसे भारत से बाहर अफग़ानिस्तान में भटकना पड़ा। इस अवधि में बिहार में शेरखाँ नामक एक साहसिक सरदार ने अपनी शक्ति बढ़ा ली और वह हुमायूं को हरा कर, उसे भारत से भगा कर, शेरशाह सूरी के नाम से दिल्ली का शासक बन बैठा। परन्तु शेरशाह सूरी ने पूर्ववर्ती सुलतानों के सैनिक शासन को पुनरुज्जीवित करने की बजाय नागरिक प्रशासन की नई व्यवस्था की नींव डाली और शासन में उदारता का समावेश किया। बाबर, हुमायूं और शेरशाह सूरी की जो उदार और प्रगतिशील दृष्टि थी वह अकबर के शासन में शानदार ढंग से फलीभूत हुई। उनका शासन-काल 1556 से 1605 ई० तक, लगभग आधी-शताब्दी तक चला। आरंभिक 20 वर्षों तक संधि-विग्रह में व्यस्त रहकर उन्होंने प्रमुखतः साम्राज्य के विस्तार और संगठन का कार्य किया — पूर्व में बंगाल और पच्छिम में राजस्थान और गुजरात तक संपूर्ण उत्तर भारत साम्राज्य के अधीन हो गया, केवल मेवाड़ के वीर राणा प्रतापसिंह ने जीवन-पर्यन्त पराजय नहीं स्वीकार की। अन्य राजपूत राजा न केवल मुग़ल साम्राज्य के मित्र और सहायक बने, बल्कि उन्होंने साम्राज्य के शासन और उसकी सेनाओं में बड़े-बड़े पद निष्ठापूर्वक शोभित किए, बल्कि कुछ ने तो अकबर के साथ शादी विवाह के व्यक्तिगत संबंध भी स्थापित किए। अकबर ने 1563 ई० और 1564 ई० में क्रमशः तीर्थ-यात्रा कर (जकात) और धार्मिक कर (जज़िया) समाप्त कर दिए। ये कर पूर्ववर्ती मुसलिम सुलतानों के शासन-काल में सभी हिन्दुओं को मुसलमान न बनने के दण्डस्वरूप देने पड़ते थे। साम्राज्य को संगठित करने के बाद सन् 1575 ई० में, अकबर ने आगरा के पास सीकरी के क़िले में एक इबादतखाना (पूजागृह)

बनवाया जिसमें विभिन्न धर्मों के अनुयायी विद्वानों और साधु-संतों के साथ धर्म-चर्चा होती थी। सर्व-धर्म-समन्वय के रूप में अकबर ने आधुनिक काल की थियोसाफ़िकल सोसाइटी के समान दीनइलाही नाम से एक नया संगठन चलाने का भी यत्न किया था। परन्तु इस संगठन में सम्मिलित होने के लिए भी सम्राट किसी पर दबाव नहीं डालते थे। उनके कई निकटवर्ती दरबारी, मुसाहिब और नवरत्न सभा के सदस्य इसमें सम्मिलित नहीं हुए थे। अकबर को साधु-सन्यासियों, महात्माओं, पंडितों, कलाकारों, गुणियों और विद्वानों से मिलने का बहुत चाव था। अबुलफ़जल और फ़ैज़ी, अब्दुर्रहीम खानखाना, बीरबल, टोडरमल, तानसेन, गंग और नरहरि जैसे अनेक भाषाओं के विद्वान लेखक, कवि, संगीतकार और प्रशासक दरबार की शोभा बढ़ाते थे, जिसकी कीर्ति देश-विदेश में, उस समय के संपूर्ण सभ्य जगत में, व्यापक रूप में फैल गई थी।

मथुरा-वृन्दावन में कृष्ण-भक्ति के केन्द्रों की स्थापना और उनकी उन्नति का इतिहास अकबर के शासनारूढ़ होने के पहले से आरंभ हो गया था। आगरा और दिल्ली के आसपास जिस समय राजनीतिक दांव-पेच, मार-काट और भारी भारी सेनाओं के बीच युद्धों का शोर जोरों पर था, ठीक उसी समय जन-जीवन को नई शक्ति से अनुप्राणित करने के उद्देश्य से भक्ति-आन्दोलन के अभियान की, प्रेम शांति, नव-निर्माण, मंगल और आनंद के सन्देश प्रसारित करने की, जोरदार तैयारियां हो रही थीं। अकबर के सिंहासन पर बैठने के छब्बीस वर्ष पूर्व 1530 ई० में, अर्थात उसी वर्ष जब बाबर का देहान्त हुआ था, वल्लभाचार्य गोलोकवासी हुए थे। अकबर के सिंहासन पर बैठने के समय सूरदास की अवस्था 78 वर्ष की हो गई थी। उस समय तक सीकरी-आगरा के समीपवर्ती गोवर्धन पर श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करते हुए, उन्होंने सैकड़ों पद रच लिए होंगे और उनका यश चारों ओर फैल गया होगा। आश्चर्य कि अकबर जैसे गुणी और गुण-ग्राहक भारत-सम्राट का भी सूरदास के साथ इतना संपर्क नहीं जुड़ सका कि उनके इतिहासों-आईने-अकबरी, मुंतखबुत्तवारीख और मुशियाते अबुलफ़ज़ल में उनका उल्लेख होता। इन ग्रंथों में उल्लिखित सूरदास नाम के व्यक्ति प्रसिद्ध भक्त कवि सूरदास से भिन्न हैं। परन्तु 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूरदास और अकबर की भेंट का उल्लेख अवश्य किया गया है। उस विवरण से यह भी प्रकट होता है कि किस कारण सूरदास और अकबर के बीच वैसी निकटता नहीं स्थापित हो सकी, जैसी अकबर गुणियों, गायकों, कवियों और महात्माओं से स्थापित करना चाहते थे। वह विवरण हम आगे देंगे, यहां पर इतना कहना पर्याप्त है कि अकबर आगरा के निकट गोवर्धन पर रहनेवाले भक्तों और महात्माओं के विषय में उदासीन नहीं थे। कहते हैं तानसेन ने संभवतः मथुरा में सूरदास से उनकी भेंट कराई थी। वल्लभाचार्य के प्रमुख चार शिष्यों में संभवतः केवल कुंभनदास ही अकबर से मिलने के लिए फ़तेहपुर सीकरी गए थे और वहां संभवतः सम्राट की शान-ठाठ और शाही-दरबार के शिष्टाचार आदि को देख कर, पछता कर उन्होंने कहा थाः-

भक्तन कों कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहियाँ टूटी बिसरि गयो हरिनाम।

गोकुल के गुसाइयों और उनके संरक्षण तथा उनकी प्रेरणा में बढ़ रहे महान कवि सूरदास का महत्व अकबर के इतिहासकारों ने उस समय भले ही न समझा हो, परन्तु अकबर के उदार प्रशासन

ने उनकी उपेक्षा नहीं की। वल्लभाचार्य का गोलोकवास, जैसा कि पहले कह चुके हैं, अकबर का राज्य-शासन आरम्भ होने के 23 वर्ष पहले ही हो चुका था। वस्तुतः उस समय अकबर का जन्म भी नहीं हुआ था। अकबर का जन्म तो 1542 ई० में हुआ। वल्लभाचार्य का गोलोकवास और अकबर के पितामह बाबर का गोलोकवास एक ही वर्ष हुआ। इधर हुमायूं ने नव-स्थापित मुग़ल बादशाही की बागडोर संभाली, उधर वल्लभाचार्य के बड़े पुत्र गुसाई गोपीनाथ (1509-1542 ई०) पुष्टिमार्ग की गद्दी पर विराजमान हुए। हुमायूं का शासन केवल दस वर्ष चला और वह भी बड़े संघर्ष और, विशेषकर गुजरात में, युद्ध अभियानों के बीच। गुसाईं गोपीनाथ भी आचार्य के रूप में केवल आठ वर्ष जीवित रहे, उन्होंने गुजरात में धर्म प्रचार करने में अधिक समय लगाया। उसके बाद सन् 1538 ई० से 1585 ई० तक गोपीनाथ के छोटे भाई गुसाईं विट्ठलनाथ (1515-1585 ई०) संप्रदाय के आचार्य हुए। उन्होंने संप्रदाय का संगठन बड़ी कुशलता के साथ किया। गुसाई विट्ठलनाथ के समय में ही हुमायूं को देश छोड़कर भागना पड़ा, शेरशाह सूरी का सुयोग्य शासन चला, उसके उत्तरधिकारियों की अयोग्यता के कारण सूरीवंश का पतन हुआ और अंत में, 1555 ई० में, पुनः हुमायूं की वापसी हुई तथा अकबर का शासन आरंभ हुआ। गुसाई विट्ठलनाथ के नेतृत्व में, इस राजनीतिक उलट-फेर के बावजूद, संप्रदाय की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। किसी शासक ने मथुरा-गोकुल-वृन्दावन में चल रही धार्मिक-सांस्कृतिक चहल-पहल पर बुरी दृष्टि नहीं डाली। अकबर का शासन-काल तो इस चहल-पहल के लिए ईश्वरीय वरदान सिद्ध हुआ। अकबर के काल में, सन् 1566 ई० में, गुसाईं विट्ठलनाथ अरइल (इलाहाबाद) छोड़ कर गोकुल में आ गए। उसी वर्ष अकबर की ओर से एक फ़रमान (आज्ञापत्र) मिला जिसमें घोषणा की गई कि गोकुल की जमीन गुसाईं विट्ठलराय को दी जाती है। 1571 ई० से गुसाईं जी स्थायी रूप में गोकुल में ही रहने लगे। शासन की ओर से उन्हें पूर्ण सुरक्षा और संरक्षण मिलता रहा। उनके नाम और भी कई शाही फ़रमान जारी हुए जिनके अनुसार उन्हें निर्भय हो कर रहने, गऊएं चराने और धर्म-प्रचार करने की आजादी दी गई। गुसाई विट्ठलनाथ का गोलोकगमन सन् 1585 ई० में हुआ, परन्तु उसके बाद भी शाही फ़रमान उन्हीं के नाम जारी होते रहे। अकबर के समय के 1594 ई० के एक फ़रमान द्वारा गोकुल का मौज़ा गुसाईं विट्ठलनाथ और उनके उत्तराधिकारियों को पीढ़ी दर पीढ़ी-माफ़ी में दिया गया। ऐसे फ़रमान अकबर के पौत्र शाहजहां के शासन-काल तक जारी होते रहे। अकबर की उदार और सब धर्मों को स्वतंत्रता देने की नीति के शाहजहां के समय में डांवाडोल होने के लक्षण तो दिखाई देने लगे थे, पर गोकुल के गुसाइयों को तब भी संरक्षण मिलता था। शाहजहां के बाद औरंगजेब के शासन काल में उसकी धार्मिक दमन और कट्टरता की नीति के फलस्वरूप श्रीनाथ जी को गोकुल-गोवर्धन छोड़ कर काँकरौली (मेवाड़) जाना पड़ा। परन्तु वह बाद की बात है। जहां तक सूरदास का संबंध है, 78 वर्ष की उम्र के बाद उनका शेष जीवन अकबर के शासन काल में ही बीता। सूरदास के गोलोकवास का वर्ष गुसाईं विट्ठलनाथ के गोलोक-गमन (सन् 1585 ई०) के पहले अनुमान किया गया है। संभवतः उसी के आस-पास, शतायु होने के बाद सम्राट अकबर के शासन-काल में ही सूरदास का गोलोकवास हुआ। गोलोकवास की बात बाद में देखेंगे, इस समय उसका उल्लेख यह स्मरण दिलाने के उद्देश्य से किया गया है कि सूरदास के जन्म के समय बहलोल लोदी का शासन था, उनकी बाल्यावस्था और तरुणावस्था सिकंदर लोदी के शासन काल में बीती,

उसी समय वल्लभाचार्य से उनकी भेंट हुई और उनका कृष्ण-लीला के विधिवत गायन का रचना-काल इब्राहीम लोदी, बाबर, शेरशाह तथा उसके उत्तरधिकारियों, हुमायूं और अकबर के राज्य-शासन में बीता। इस बीच राजनीतिक अव्यवस्थाएं हुई, युद्ध हुए, शासन बदले और अंत में अकबर जैसे उदार, राष्ट्रीय सम्राट के समय देश की चतुर्मुखी उन्नति हुई। परन्तु सूरदास का भक्ति-भाव और उसके साथ उनका संगीतमय काव्य-वैभव बराबर प्रगति करता गया। निश्चय ही अकबर के शासन काल में वह चरम उन्नति पर पहुंच कर अमर हो गया और सूरदास को भी अमर कर गया। परन्तु फिर भी समय कैसा विपरीत था कि किसी इतिहासकार ने ऐसे महान कवि का उल्लेख तक नहीं किया और हमें यह सारा विवरण देने के लिए एक कथा वार्ता पर, अर्थात धार्मिक अनुश्रुतियों पर, निर्भर हो कर संतोष करना पड़ रहा है।

4. सूरदास की युग-चेतना

पहले अध्याय में सूरदास के आविर्भाव का जो विवरण दिया गया है, यदि वह सही है तो, गऊघाट पर संन्यासी के रूप में रहते हुए सूरदास ने कृष्ण की आनंदमयी लीला का वर्णन करना आरंभ नहीं किया था। वे भगवान के साथ स्वामी और सेवक के संबंध से ही, दास्य भाव अपना कर, और दीनता-हीनता की भावना से पीड़ित हो कर, पतित-पावन भगवान की शरण-याचना के ही पद बनाते और गाते थे। सामान्य रूप में समझा जाता है कि उन्होंने 'विनय' संबंधी पद गऊघाट पर रहते हुए रचे थे, क्योंकि वल्लभाचार्य से दीक्षा पाने और कृष्ण की प्रेम और आनंद से परिपूर्ण लीला का रहस्य जानने के बाद उन्होंने 'घिघियाना'—दीनता का भाव व्यक्त करना छोड़ दिया था। परन्तु ऐसा समझना साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को आवश्यकता से अधिक महत्व देना है। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग की भक्ति में प्रेम को ही विशेष महत्व दिया गया है, प्रेम-संबंधों में दास्य भाव को स्थान नहीं मिला है या कम से कम उसे अत्यन्त गौण स्थान दिया है। परन्तु सूरदास के विनय के पदों की ऐसी व्याख्या करने वाले लोग भूल जाते हैं कि भक्ति के रूप में प्रेम की अनुभूति के भीतर भक्त भगवान की महत्ता और अपनी लघुता को पूर्ण रूप से कभी नहीं भुला सकता। यह मान सकते हैं कि वल्लभाचार्य ने सूरदास का 'घिघियाना' छुड़ाया और उन्हें कृष्ण की आनंदमयी लीला से परिचित करा कर नई प्रेरणा दी। परन्तु कृष्ण की वह लीला लौकिक जैसी थी, अनुभवगम्य सी लगती थी, सर्वथा लौकिक तो नहीं थी, थी तो वह भगवान की ही लीला। प्रेम-भक्ति में भी भक्त भगवान के माहात्म्य को कैसे भुला सकता है ? अतः यह समझना कि सूरदास ने 31 वर्ष की उम्र तक गऊघाट पर रहते हुए ही विनय के पद रच डाले थे और बाद में उन्होंने भगवान के प्रेम-संबंधों की लीला का वर्णन करने के अलावा कभी भी दीनता नहीं दिखाई, बहुत मोटे ढंग से सोचना है। वास्तव में, चाहे किसी भाव का प्रेम-संबंध हो, उसकी गहरी अनुभूति में आत्म-ग्लानि, अनुनय-विनय, दैन्य-निवेदन आ जाना स्वाभाविक ही नहीं अपरिहार्य है, इसके बिना प्रेम की पूरी अनुभूति होती ही नहीं। सूरदास ने ऐसी अनुभूति बराबर दिखाई है, उन्होंने दीनता कभी नहीं छोड़ी, केवल उसके संदर्भ बदल गए, उनमें भावों की संपन्नता आ गई।

सूरदास के इन पदों के विषय में एक और धारणा कभी-कभी बड़ी बेतुकी हद तक पहुंचा दी जाती है। सूरदास की जीवनी उन्हीं के शब्दों में संकलित करने के जोश में कुछ लोगों ने कितने ही ऐसे पदों को आत्मकथन मानने की भूल कर डाली है जो सामान्य जन-जीवन की आलोचना में रचे गए हैं। एक पद में मन को संबोधित करते हुए सूरदास ने विषयों में उनकी आसक्ति की निंदा करते हुए और नंद-नंदन की भक्ति में लगने का प्रबोध देते हुए स्वंय कहा है:

सूरदास आपुहिं समुझावै, लोग बुरौ जनि मानौ।।

जो लोग विनम्रता से कहे गए इस वाक्य का अर्थ यह लगाएं कि वे अपने ही मन को समझा रहे हैं, लोगों को नहीं, उनकी बुद्धि शब्द-शक्ति से अपरिचित ही कही जाएगी। वस्तुतः सूर ने विनय संबंधी पदों में युगजीवन पर ही व्यापक और आलोचनापूर्ण दृष्टि डाली है, आत्म-कथन तो कहीं-कहीं भूले से अपने आप हो गए हैं। न जाने कितनी बार सूर ने तीनों पन—बचपन, जवानी और बुढ़ापा व्यर्थ गंवाने का वर्णन किया है और कितनी बार बुढ़ापे के दयनीय चित्र आँके हैं। यदि

इन्हें आत्म-जीवनी मानें तो न यह मान सकते हैं कि विनय के ये पद उन्होंने गऊघाट पर 31 वर्ष की उम्र तक रच डाले थे और न यह कि वे एक सिद्ध भक्त पुरुष थे और वे बुढ़ापे से जर्जर होकर, खांसते-खंखारते, दुख-दर्द से रोते-कलपते नहीं मरे, बल्कि बड़े आनंद के साथ, भगवान की गोलोक-लीला में सम्मिलित हुए थे।

सूरदास के गुरू वल्लभाचार्य ने अपनी 'कृष्णाश्रय' नामक छोटी रचना में समय की गति का वर्णन करते हुए लिखा था: कलि-काल में पाखंड बढ़ गया है, और सब मार्ग नष्ट हो गए हैं, देश म्लेच्छाक्रांत है, पाप छाया हुआ है, लोक पीड़ित है, गंगादि तीर्थ दुष्टों से आवृत हो गए हैं, देवता तिरोहित हो गए हैं, अहंकार बढ़ गया है, पाप का अनुसरण हो रहा है, पूजा-कर्म में लाभ-दृष्टि आ गई है, ज्ञान, मंत्र, योग और वेदार्थ तिरोहित हो गए हैं, नाना वादों का प्रचार हो गया है, अतः अब कृष्ण की शरण ही एक मात्र उपाय शेष रह गया है।

सूरदास ने भी अपने समय के जीवन का खाका खींचते हुए हरि-भक्ति की प्रेरणा दी है। संसार के भोगमय जीवन की व्यर्थता का वर्णन करते हुए वे कहते हैः—

नर तैं जनम पाइ कह कीनौ?
उदर भर्‌यौ कूकर-सूकर लौं, प्रभु कौ नाम न लीनौ।
श्री भागवत सुनी नहीं श्रवननि, गुरु ग़ोविंद नहिं चीनौ।
भाव-भक्ति कु हृदय न उपजी, मन विषया मैं दीनौ।
झूटौ सुख अपनौ करि जान्यौ, परस प्रिया कैं भीनौ।
अध कौ मेरु बढ़ाइ अधम तू, अंत भयौ बल हीनौ।
लख चौरासी जोनि भरमि कैं, फिर वाहीं मन दीनौ।
सूरदास भगवंत भजन बितु ज्यौ अंजलि जल छीनौ।

सामान्य जन-जीवन उन दिनों ऐसा ही उद्देश्यहीन हो गया था—सांसारिक विषयों का सुख ही जैसे एक मात्र लक्ष्य रह गया हो। परन्तु उसका परिणाम कैसा दुखदायी था। साधारण मानव-जीवन की गति-विधि कैसी संकीर्ण और अंत में कैसी दयनीय थी, इसका एक चित्र सूरदास अपने ऊपर घटाते हुए देते हैं। निश्चय ही यह चित्र उनका व्यक्तिगत आत्म-कथन नहीं लोक का आत्म-निवेदन है:—

बालापन खेलत ही खोयौ, जुवा विषय-रस मातें।
वृद्ध भये सुधि प्रगटी मोकों, दुखित पुकारत तातैं।
सुतनि तज्यौ, भ्रात तज्यौ, तन तैं त्वच भई न्यारी।
स्त्रवन न सुनत, चरनगति थाकी, नैन भए जलधारी।
पलित केस, कफ कंठ विरूंध्यौ, कल न परति दिन राती।
माया मोह न छांड़े तृष्ना, ये दोऊ दुख-याती।
अब यह विथा दूरि करिबे कौं और न समरथ कोई।
सूरदास प्रभु, करूना-सागर, तुम तैं होइ तौ होई।।

सूरदास अपने युग के निरूद्देश्य जीवन की यथार्थता का गहराई से अनुभव कर रहे थे। सांसारिक जीवन का परंपरागत क्रम उन्होंने कभी नहीं अपनाया, संन्यास-वृत्ति लेकर तो संभवतः वे पैदा ही हुए थे, परन्तु लोक-जीवन की दिशा को बदलने की भी उन के मन में तीव्र उत्कंठा थी। इसीलिए उन्होंने एक के बाद एक बहुत से चित्र उपस्थित करते हुए परंपरागत जीवन की नग्न यथार्थता प्रदर्शित की है। वे कहते हैः—

सबै दिन गये विषय के हेत।
तीनौ पन ऐसै हीं खोए, केस भए सिर सेत।
आंखित अंध, स्वप्न नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगा-जल तजि पियत कूप-जल, हरि तजि पूजत प्रेत।
मन-बच-क्रम जो भजै स्याम कौं, चारि पदारथ देत।
ऐसौ प्रभू छांड़ि क्यों भटकैं, अजहूं चेत अचेत।

हरि-भक्ति की ओर लोक-मन को मोड़ने के लिए यह जरुरी था कि झूठे देवी-देवताओं और भूत-प्रेतों की तत्कालीन समाज में प्रचलित मान्यता से उन्हें विरत किया जाए, यह बताया जाए कि इन में पड़ने से मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता। ऐसा नहीं है कि लोग स्वयं न अनुभव करते हों कि संसार के माया-मोह, स्त्री-पुत्र, धन-संपत्ति के प्रलोभनों में अटके रहने पर बाद में बुढ़ापा आने पर पछताना पड़ता है, परन्तु ऐसे बिरले ही होते हैं जो समय रहते इस यथार्थ को समझ सकें। सूरदास ने संभवतः अपनी किशोर अथवा नव-तरुण अवस्था में ही इसे समझ लिया था और यह भी समझ लिया था कि वे लोगों को समझाएं।

अब मैं जानी देह बुढ़ानी।
सीस, पाउँ, कर, कह, यौ न मानत, तन की दसा सिरानी।
आन कहत, आनै कहि आवत, नैन नाक बहै पानी।
मिटि गई चमक-दमक अंग-अंग की, मति अरू दृष्टि हिरानी।
नाहिं रही कुछ सुधि तन-मन की, भई जु बात बिरानी।
सूरदास अब होत बिगूचनि, भजि लै सारंगपानी।।

निश्चय ही, जो सूरदास जैसे महात्माओं का उपदेश मान कर शांर्गधर भगवान की भक्ति करते होंगे, उनकी बुढ़ापे में ऐसी दुर्दशा नहीं होती होगी। आगे हम देखेंगे कि स्वयं सूरदास कितने उत्साह और कैसी उमंग के साथ शरीर छोड़ कर हरि की आंनद लीला में सम्मिलित हुए थे। यह दशा तो, सूरदास देखते थे, उन लोगों की होती है जो हरि-भक्ति के बिना जीवन को व्यर्थ गंवा देते हैंः—

झूठे ही लगि जनम गंवायौ।
भूल्यौ कहा स्वप्न के सुख मैं, हरि सौं चित न लगायौ।
कबहुकं बैठ्यौ रहसि-रहसि कै, ढोटा गोद खिलायौ।
कबहुंक फूलि सभा में बैठ्यौ, मूछनि ताव दिखायौ।
टेढ़ी चाल, पाग सिर टेढ़ी टेढ़ै-टेढ़ै धायौ।
सूरदास-प्रभु क्यौं नहिं चेतत, जब लगि काल न आयौ।।

यह चित्र अमीरों और रईसों के जीवन का है, जो अपने धन-वैभव के अहंकार और भरे-पूरे परिवार के क्षणिक सुखों में कर्तव्य-कर्म को भूंले रहते थे। अपने समय के राजनीतिक-प्रशासनिक जीवन का रूपक लेकर प्रकारांतर से उस पर व्यंग्य करते हुए, तथा-कथित बड़े लोगों की पोल भी सूरदास खोलते हैं:—

जनम साहिबी करत गयौ।
काया नगर बड़ी गुंजाइस, नाहिं न कछू बढ़यौ।
हरि कौ नाम दाम खोटे लौ, झकि झकि डारि दयौ।
विषया-गांव अमल कौ टोटौ, हंसि हंसि कै उमयौ।
नैन अमीन, अधर्मिनि कै बस, जहां कौ तहां छयौ।
दगाबाज कुतवाल काम रिपु, सरबस लूटि लयौ।
पाप उजीर कह् यौ सोइ मान्यो, धर्म सुधन लुटयौ।
चरनोदक कौ छांड़ि सुधा-रस, सुरा-पान अंचयौ।
कुबुधि-कमान चढ़ाइ कोप करि, बुधि तरकस रितयौ।
सदा सिकार करत मृग-मन कौ, रहत मगन भुरयौ।
धेर्‌यौ आइ कुटुम लसकर मैं, जब अहदी पठयौ।
सूर नगर चौरासी भ्रमि-भ्रमि घर-घर को जु भयौ।

साहिबी की व्यर्थता सिद्ध करने के लिए इस वर्णन में जिस फ़ारसी-अरबी की शब्दावली में अमल (नशे का व्यसन), अमीन, कुतवाल, वजीर, शिकार, लश्कर, अहदी आदि के उपमानों का प्रयोग किया गया है तथा सुरापान आदि का उल्लेख किया गया है, उससे यह अनुमान करना गलत न होगा कि संभवतः यह पद शेरशाह सूरी के शासन-काल या उसी के आस-पास बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों की झलक देता है। उस समय के राज-पुरूषों के पीछे लगने वाले लालची लोगों के विषय में उन्होंने कहा है:

यह आसा पाणिनी दहै।
तजि सेवा बैकुंठनाथ की, नीच नरनि के संग रहै।
जिनकौ मुख देखत दुख उपजत, तिनकौं राजा-राय कहै।
धन-मद-मूढ़नि, अभिमानिनि मिलि, लोभ लिए दुर्बचन सहै।

मदोन्मत शासकों—उस समय के सुलतानों, बादशाहों का उदाहरण् निश्चय ही सूर के समक्ष होगा, जब उन्होंने गाया था:—

इहिं राजस को को न बिगायौ?
हिरनकसिपु, हिरनाच्छ आदि हे, रावन कुंभकरन कुल खोयौ।
कंस, केसि, चानूर, महाबल करि निरजीव जमुन जल बोयौ।
जज्ञ समय सिंसुपाल सु जोधा अनायास लै जोति समोयौ।

परन्तु सामान्य जन, अमीर-उमरा और राजा-महाराजा ही सूर की आलोचना के लक्ष्य नहीं थे, बल्कि उस समय के धार्मिक जीवन के पाखंड पर भी उन्होंने कड़ी दृष्टि डाली थी। उनका विश्वास था और यह विश्वास केवल उनका और उनके गुरू वल्लभाचार्य का ही नहीं मध्ययुग के सभी संत महात्माओं और सुधीजनों का था कि इस कलि-काल में हरि की प्रेम-भक्ति के अलावा और कोई दूसरा उपाय जीवन को सार्थक बनांने का और चरम गति पाने का नहीं है। अन्य उपाय व्यर्थ भटकाने वाले, गुमराह करने वाले हैं। केवल अपने लिए नहीं, लोक के लिए भक्ति की याचना करते हुए सूर अपने ऊपर ढाल कर शैव उपासना की कटु आलोचना करते हैं —

अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जौ दिखावहु, नाहिनै रुचि आन।
जा दिना तैं जनम पायौ, यहै मेरी रीति।
विषय-विष हठि खात, नाहीं, डरत करत अनीति।
जरत ज्वाला, गिरत गिर तैं, स्वकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत, राखि सकत न ईस।
कामना करि कोटि कबहूं, किए बहु पसु-घात।
सिंह-सावक ज्यौं तजै गृह, इंद्र आदि डरात।
नरक कूपनि जाई जमपुर पर्‌यौ बार अनेक।
थके किंकर जूथ जम के, टरत टरैं न नेक।

सूर की दृष्टि में शरीर को इस प्रकार कष्ट देकर, काशी-करवत ले कर, अपनी बलि चढ़ाकर शिव की साधना करने वालों का कल्याण नहीं हो सकता। उन्हें नरक वास ही मिलता है। जन्म-मरण के चक्र से छूटने का एक मात्र उपाय तो भगवान हरि की प्रेम-भक्ति ही है। वैष्णव-भक्ति के अलावा अपने समय के प्रचलित मत-मतांतरों पर सूरदास ने भ्रमर-गीत प्रसंग में बड़ी व्यंग्यात्मक शैली में कटाक्ष किए हैं और काव्य की व्यंग्य शैली में गोपियों के माध्यम से उनका खंडन किया है। सूरदास एक ओर अपने समय के संमाज की विषयोन्मुख संसारी प्रवृत्ति, लौकिक लोभ-मोह-मद-मत्सर में सभी वर्गों के लोगों की तल्लीनता, झूठी मान-मर्यादा, धन-संपत्ति और राज्य-विस्तार के लिए कलह-युद्ध आदि और दूसरी ओर इन सब की क्षण-भंगुरता के परिणामस्वरूप निराशा, मलिनता, रोग, दुःख, दैन्य आदि को देखकर और दिखाकर लोगों को समझाना चाहते थे कि जीवन को सार्थक बनाने, उसमें प्रयोजनशीलता लाने, उसे अमर बनाने, दुःख-दैन्य को जीतने का एक ही उपाय है—हरि-भजन, हरि की शरणागति। वे पुराणों, भक्तों के उदाहरणों और प्रमाणों का बारंबार उल्लेख करके विश्वास दिलाना चाहते थे कि संसार की माया, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को छोड़कर भगवान की शरण में जाने से निश्चय ही कल्याण होता है। हरि की भक्त-वत्सलता, कारण-रहित कृपा, दीनों, पतितों, अकिंचनों और निरीहों के प्रति उनकी विशेष अनुकंपा के ढेरों उदाहरण देकर एक ओर वे प्रेम-भक्ति का भाव जन-जन के हृदय में भरने का प्रयत्न कर रहे थे, दूसरी ओर भगवान के इन गुणों का उन्हीं को स्मरण दिलाते हुए प्रार्थना कर रहे थे कि अब समय आ गया है जब उन्हें उसी प्रकार सहायता के लिए दौड़ पड़ना चाहिए, जैसे वे गज

INSTITUT ... Acc. No. 91309

के लिए दौड़े, अजामिल, गणिका, द्रौपदी और न जाने कितनों की उन्होंने सहायता की, कैसे-कैसे घोर पापियों को उन्होंने तार दिया! सूरदास ने जब स्वयं अपने पापों की बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस पंक्तियों में सूची दे कर, पतित-पावन हरि के विख्यात यश की याद दिला कर, उद्धार की अपनी सहज योग्यता और अधिकार सिद्ध करते हुए, शिकायत की है, चुनौती दी है, बदनामी करने की धमकी दी है, तब यह न समझना चाहिए कि स्वयं अपने किए पापों का अतिरंजित वर्णन कर रहे हैं और अपने उद्धार की प्रार्थना कर रहे हैं। यह तो एक विनम्र और परोपकारी कवि की सहज शैली है। पापों की यह सूची समाज के सामान्य जन-जीवन का नग्न चित्र मात्र है। शिकायत और चुनौती लोक की ओर से उनकी आत्मविश्वासपूर्ण वकालत है।

युग-जीवन की यह चेतना निश्चय ही सूरदास में जन्मजात कही जा सकती है। वैराग्य-वृत्ति ले कर तो मानो वे पैदा ही हुए थे। तभी तो छः वर्ष की उम्र में उन्होंने माता-पिता और घर-बार को छोड़ दिया और अठारह वर्ष की उम्र में वे वन-प्रांतर में गऊघाट पर आकर रहने लगे। परन्तु माया उनके पीछे-पीछे चल रही थी। वह सबका पीछा करती है। जैसे गांव के निकट तालाब पर रहते हुए माया ने उन्हें घेर लिया था, जैसे उन्हें दिखाई दिया था कि मंथुरा में रहने पर माया से वे बच नहीं सकेंगे, वैसे ही गऊघाट के कम-से-कम अपेक्षा कृत निर्जन स्थल पर भी माया का जमाव जुड़ गया होगा। यह तो 'वार्ता' में लिखा ही है कि उनके अनेक सेवक थे और वे स्वामी नाम से प्रसिद्ध हो गए थे, उनकी प्रसिद्धि महाप्रभु वल्लभ तक पंहुच गई थी। हम जानते हैं स्वामियों को, और यदि वे सूर (अन्धे) तथा गायक और कवि हों तो, किस प्रकार भक्त नामधारी स्त्री/पुरुष घेर लेते हैं और उन पर अपनी श्रद्धा और भेंट-पूजा लाद देते हैं। ऐसे स्वामियों के जीवन की व्यर्थता को वे स्वयं अनुभव कर रहे थे। तभी तो उन्होंने गाया था:—

किते दिन हरि सुमिरन बिनु खोए।
पर-निंदा रसना के रस करि, केतिक जनम बिगोए।
तेल लगाइ कियौ रुचि-मर्दन, बस्तर मलि-मलि धोए।
तिलक बनाइ चले स्वामी ह्वै, विषयिनि के मुख जोए।
काल बली तैं सब जग कांप्यौ, ब्रह्मादिक हूं रोए।
सूर अधम की कहौ कौन गति, उदर भरे परि सोए।।

'स्वामियों' की इस सामान्य गति को देखकर गऊघाट पर उन्हें अपने सेवकों और स्वयं अपने स्वामीपन के जीवन से भी अरुचि होने लगी होगी, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। वैराग्य और संन्यास का यह जीवन निषेध पर आधारित होने के कारण प्रायः सफल नहीं हो पाता। माया को छोड़ने का जितना ही प्रयत्न किया जाए, उतनी ही वह और लिपटती जाती है। गृहस्थों को ही नहीं, भगवान के भजन का संकल्प लिए 'साधुओं' को भी वह ठगती है:—

हरि, तेरो भजन कियौ न जाइ।
कहा करौं, तेरी प्रबल माया देति मन भरमाइ।
जबै आवौं साधु-संगति, कछुक मन ठहराइ।
ज्यौं गयंद अन्हाइ सरिता, बहुरि बहै सुभाइ।

वेष धरि-धरि हर्यौ पर धन, साधु-साधु कहाइ।
जैसे नटवा लोभ-कारन करत स्वांग बनाइ।
करौं जतन, न भजौं तुमकौं, कुछक मन उपजाइ।
सूर प्रभु की प्रबल माया, देति मोहि भुलाइ।।

भगवान की असीम कृपा पर भरोसा करते हुए भी सूरदास गऊघाट पर रहते समय कदाचित इसी उधेड़-बुन में पड़े थे कि अहं और मम (मैं और मेरा) से उपजे सांसारिक प्रलोभनों—मन की सहज चंचल प्रवृत्तियों को कैसे रोका जाए। ऐसा नहीं है कि वे इसके उपाय से सर्वथा अपरिचित रहे हों। वे यह तो जानते ही थे और पक्का विश्वास करते थे कि भगवान की कृपा हो तो माया का प्रभाव दूर हो जाता है, उल्टे माया सहायक बन जाती है, क्योंकि भगवान स्वयं मायापति हैं। बिगड़ी हुई गाय के रूपक से माया का वर्णन करते हुए उन्होंने माधव से प्रार्थना की है कि इस कुमार्गगामी, वेदरूपी ईख और कपास को नष्ट करने वाली, 'हरहाई' गाय को सन्मार्ग पर लाकर चराने का काम तो गोपाल ही कर सकते हैं। परन्तु, संभव है सूर को उस समय तक यह न सूझा हो कि गोपाल को गौ (इंद्रियां) सौंपने का वास्तविक उपाय क्या है और किस प्रकार गोपाल इंद्रियों के विषयों का समर्पण स्वीकार कर सकते हैं। 'वार्ता' का कथन माने तो लगता है कि वल्लभाचार्य से भेंट होने के पूर्व सूरदास को भागवत का मर्म नहीं ज्ञात हो सका था। यह तो नहीं कह सकते कि उन्होंने भागवत की कथा नहीं सुनी होगी, पर वल्लभाचार्य के द्वारा दीक्षा पाने और तीन दिन तक उनके सत्संग में रह कर भागवत का भाव समझने, अर्थात्, श्रीकृष्ण की लीला का अभिनिवेश होने के बाद ही शायद वे अनुभव कर सके होंगे कि श्रीकृष्ण की लीला ही है जो माया से मुक्ति दिला सकती है, अथवा, माया को स्वामिनी के स्थान पर दासी बना सकती है।

किस प्रकार सूर ने कृष्ण की लीला का गायन आरंभ किया, इसका भी थोड़ा सा वर्णन वार्ता में मिलता है। आगे उसी के आधार पर हम सूरदास के मानस का विकास समझने का यत्न करेंगे।

5. श्रीनाथ जी के मंदिर में — वल्लभाचार्य के साथ

तीन दिन तक गऊघाट पर रहकर महाप्रभु वल्लभ ने सूरदास और उनके सेवकों को श्रीमद्भागवत की अपनी 'सुबोधनी' टीका का उपदेश दिया और पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनाया, जिससे सूरदास को संपूर्ण भागवत स्पष्ट हो गई और उसी के अनुसार पद रचने का उन्होंने संकल्प कर लिया।

गऊघाट से चलकर सबसे पहले आचार्य जी सूरदास को गोकुल ले गए। श्री गोकुल का दर्शन और उन्हें दंडवत करते ही सूर के हृदय में गोकुल की बाल-लीला के भाव उमड़ आए। उन्होंने सोचा कि आचार्य जी को जन्म-लीला का पद तो सुना चुका हूं, अब बाल लीला का भी वर्णन सुनाऊं। अतः उन्होंने निम्नलिखित पद गाया जिसमें घुटनों चलते हुए शिशु कृष्ण के मोहन-रूप का वर्णन किया गया है:—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुनि चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप-गन मादक मधुहिं पिए।
कठुला कंठ, वज्र केहरि-नख, राजत रुचित हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत-कल्प जिए।।

शिशु कृष्ण की रूप-माधुरी का यह वर्णन सुनकर आचार्य जी इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बाल-लीला के और भी कई पद सुनने की इच्छा प्रकट की। कौन जाने सूर ने आचार्य जी को निम्नलिखित पद भी सुनाया हो जिसमें नंद के मणिमय आंगन में शिशु-कृष्ण के घुटनों चलने की सहज मुद्राओं के बिंब के साथ-साथ उनके प्रतिबिंब को भी सूर ने शब्दों में उतारा है और साथ ही अपने भक्ति-भाव को भी वसुधा में प्रतिबिंबित कर दिया है:—

किलकंत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कै आंगन, बिंब पकरिबै धावत।
कबहुं निरखि हरि आपु छांह कौं, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हंसत राजत द्वै दतियां, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।
कनक-भूमि कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रति पद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति।
बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति।
अंचरा तर लै ढांकि सूर कै प्रभु कौं दूध पियावति।

सूरदास बाल-लीला के और भी पद सुनकर आचार्य जी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सोचा कि श्रीनाथ जी की और सब सेवा का तो प्रबंध हो गया है, पर कीर्तन की सेवा का प्रबंध जो अब तक नहीं हो पाया है, वह सूरदास को सौंप कर पूरा किया जा सकता है। तदनुसार आचार्य जी सूरदास जी को श्रीनाथ जी के द्वार पर ले गए। स्नान-ध्यान करके श्रीनाथ जी के दर्शन देकर आचार्य जी ने सूरदास को आज्ञा दी कि श्रीनाथ जी को कुछ सुनाएं। सूरदास ने निम्नलिखित पद गाया:—

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध-कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
महा मोह के नूपुर बाजत, निंदा सब्द रसाल।
भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल।
माया को कटि फेंटा बांध्यौ, लोभ तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई, जल-थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नंदलाल।।

इस पद में सूरदास ने व्यक्ति के अहं और मम (मैं और मेरा) की आधार भूमि पर अपने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का, जिनका सामूहिक नाम 'संसार' है, फिर स्मरण किया। साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान के स्वरूप, श्रीनाथ जी के सामने मानव-समाज के इन व्यापक रोगों को गहरी आत्मानुभूति के साथ स्मरण करने में उनका एक उद्देश्य था। वह नृत्य, वह राग-रंग जिसमें प्राणी सृष्टि के आदि कल से जल, थल और आकाश की अनंत योनियों में भटकता हुआ तल्लीन होता आया है, अब श्रीनाथ जी के प्रथम दर्शन के अवसर पर वे उन्हीं को समर्पित करना चाहते थे अब वे अपने आराध्य देव के सम्मुख संकल्प कर रहे थे कि उनके हृदय की सारी भावनाएं, सारी वासनाएं, सौंदर्य और प्रेम की संपूर्ण वृत्तियां भगवान में ही अपनी अभिव्यक्ति और विकास पाएंगी। परन्तु यह तभी हो सकता है जब भगवान उन्हें सुबुद्धि दें, सत्पथ से विचलित न होने दें, उनकी असीम कृपा का वरदान सदा उनकी रक्षा करता रहे। यह पद गाने के बाद, मानो भगवान ने ही 'एवमस्तु' कहा हो, आचार्य जी ने कहा— सूरदास अब तो तुम में कुछ भी अविद्या (माया, संसार, अज्ञान) शेष नहीं रही, प्रभु ने तुम्हारी सारी अविद्या दूर कर दी है; अब तुम अविद्या, माया की बात छोड़कर, भगवान के यश, उनकी लीला का वर्णन करो।

सूरदास तो लीला में लीन हो ही रहे थे। उसका वर्णन करने के पूर्व प्रभु के सम्मुख उन्हें निवेदन करना था कि भगवान के माहात्म्य और लीला में संसारी लोगों को जो अंतर्विरोध दिखाई देता है, उसमें वास्तव में अविरोध है। इसे उनकी कृपा के भाजन ब्रजवासियों के अतिरिक्त और कौन समझ सकता है? ब्रजवासियों के इसी सौभाग्य की सराहना करते हुए उन्होंने गाया:—

बदत बिरंचि, बिसेष सुकृत ब्रजबासिन के।
श्री हरि तिनकैं बेष, सुकृत ब्रजबासिन के।
ज्योति रूप जगनाथ, जगत-गुरु, जगत-पिता, जगदीस।
जोग जग्य-जप-तप-ब्रत-दुर्लभ, सो हरि गोकुल ईस।
इक, इक रोम विराट किए तन, कोटि कोटि ब्रह्मांड।
सो लीन्हौं अवछंग जसोदा, अपनै भरि भुजदंड।
जाकैं उदर लोक-त्रय, जल-थल, पंच तत्त्व चौखानि।
सो बालक ह्वै झूलत पलना, जसुमति भवनहिं आनि।
छिति मिति त्रिपद करी करुणामय, बलि छलि दियो पतार।
देहरि उलंघि सकत नहिं, सो अब खेलत नंद दुवार।

अनुदिन सुर तरु, पंच सुधा रस, चिंतामनि सुरधेनु।
सो तजि जसुमति कौ पय पीवत, भक्तनि कौ सुख दैनु।
रवि-ससि-कोटि कला अवलोकत त्रिविध, ताप छय जाय।
सो अजंत कर लै सुत-चच्छुहिं आंजति जसुमति माइ।
ताहि लाइ माखन की चोरी, बांध्यो जसुमति रानि।
बदत बेद उपनिषद छहौं रस अपै भुक्ता नाहिं।
गोपी ग्वालनि के मंडल मैं, हंसि-हंसि जूठनि खाहिं।
कमला-नायक, त्रिभुवन-दायक, सुख-दुख जिनकैं हाथ।
कांध कमरिया, हाथ लकुटिया, बिहरत बछरनि साथ।
बकी, बकासुर, सकट, तृनाव्रत, अघ, प्रलंब, वृजभास।
कंस, केसि कौं वह गति दीनी, राखे चरन निवास।
भक्त-बछल प्रभु पतित-उधारन रहै सकल भरि पूर।
मारग रोकि रहयौ द्वारैं परि, पतित-सिरोमनि सूर।

यह पद ब्रह्मा द्वारा की गई कृष्ण की स्तुति के रूप में रचा गया है। कृष्ण को ग्वाल-बाल सहित गउएं चराते और आनंद केलि करते देख ब्रह्मा को भ्रम हो गया और उन्होंने परीक्षा लेने के लिए ग्वाल, बाल, गऊ, बछड़े सभी को हर लिया। इस पर श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा का गर्व दूर करने के उद्देश्य से उसी प्रकार के ग्वाल, वत्स, गौ आदि की तुरंत नई सृष्टि कर ली और नित्य प्रति उनके साथ यथावत वृंदावन लीला करते रहे। इसे देख ब्रह्मा को आश्चर्य हुआ और अहंकार दूर होने पर उनकी समझ में आया कि ये गोपाल साक्षात परब्रह्म विष्णु हैं—अनादि, अनंत, अजन्मा, अमर भ्रम दूर होने पर ब्रह्मा कृष्ण की शरण में गए और उनकी स्तुति की।

इस पद को सुनकर आचार्य जी को विश्वास हो गया कि उन्होंने जिस भाव से सूरदास को श्रीकृष्ण लीला की व्याख्या सुनाई थी, सूर ने उसे उसी भाव से हृदयंगम कर लिया है और समझ लिया है कि लीला में उनके वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव के प्रसंगों के बीच-बीच पूतना, शकट, तृणावर्त, यमलार्जुन, अघासुर, वकासुर, नंद की वरुण पाश से मुक्ति, कंस-वध आदि के जो माहात्म्य अर्थात ऐश्वर्यसूचक अलौकिक प्रसंग हैं उनका क्या अभिप्राय है। सूरदास के गंभीर भाव की अनुभूति देख आचार्य जी पूर्ण आश्वस्त हो गए, उन्हें संतोष हो गया कि श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा के लिए सूरदास से अधिक उपयुक्त कवि-गायक और कोई नहीं मिल सकता।

आचार्य जी के द्वारा प्रतिपादित प्रेम-भक्ति उनके निम्नलिखित सिद्धांत पर आधारित थी :—

माहात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।।

माहात्म्य-ज्ञान के साथ स्नेह क्या परस्पर विरोधी बातों के मेल का प्रस्ताव नहीं है ? जहां प्रेम की अनुभूति होती है, वहां मानवीय संबंधों का आधार अवश्यंभावी है। मानव प्राणी पति-पत्नी, पिता-माता, और पुत्र; मित्र तथा अन्य सगे-संबंधियों के नाते ही परस्पर प्रेम के बंधनों में बंधता है। यदि वह भगवान के साथ ऐसे प्रेम के संबंध जोड़े तो ऐसे लौकिक प्रेम-भावों की परिपूर्णता के लिए

यह स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक है कि वह भूल जाए कि उनके प्रेम का पात्र मानव नहीं, स्वयं भगवान है। परन्तु प्रेम की पराकाष्ठा में यदि यह सदैव भूला रहे कि उसके प्रेम के पात्र सहज-सामान्य मानव—बाल कृष्ण अथवा किशोर कृष्ण हैं, तो क्या उसका प्रेम भक्ति की कोटि में पहुंच सकेगा? ऐसा प्रेम अपनी उत्कट, परम अवस्था में उदात्त बन कर संभव है, कभी-कभी आत्मविस्मृति की स्थिति में पहुंचा दे, इंद्रिय-विषयों की तुच्छता का भी अनुभव करा दे, यह भी जताता जाए कि प्रेम अमर है, शाश्वत है, लोकातीत है, पर वह भक्ति नहीं बन सकता। प्रेम को भक्ति बनाने के लिए वल्लभाचार्य ने यह आवश्यक माना था कि जहां भक्त यशोदा, नंद आदि का वात्सल्य भाव, सुबल, श्रीदामा आदि का सखा-भाव, राधा और ललिता, चंद्रावली तथा अन्य गोपियों का दांपत्य भाव अपनी चरम अनुभूति के रूप में दृढ करे, वहां बीच-बीच में उसे यह भी याद बना रहे कि उसके प्यारे बाल कन्हैया, उसके सखा गोपाल, उसके जार भाव से अपनाए हुए, परन्तु एक मात्र वल्लभ कृष्ण लौकिक पुत्र, लौकिक सखा और लौकिक प्रिय नहीं है। यह याद दिलाना आवश्यक है, नहीं तो प्रेम के ये भाव संसार की सीमाओं को तोड़कर ऊपर नहीं उठ सकते, भक्ति के पद पर नहीं पहुंच सकते। इसीलिए भागवत में वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों की लीलाओं के बीच-बीच पूतना-वध, मृत्तिका-भक्षण, तृणावर्त-वध, शंकट-भंजन, अधासुर-वध, केशी-वध, कंस-वध आदि के प्रसंग कृष्ण की अलौकिकता का आभास देने के लिए वर्णित हैं। सूरदास ने यह रहस्य केवल भक्ति के संदर्भ में तो समझा ही, आचार्य जी को यह भी दिखा दिया कि उनमें सच्चे और महान कवि की वह प्रतिभा भी है जिसके बल पर वे इन दो विरोधी बातों—मानवीय प्रेम भावों की पराकाष्ठा और भगवान की अलौकिकता की प्रतीति को मिलाकर, समन्वित करके, गा सकते हैं। आचार्य जी चाहते थे कि भक्त भगवान की लोकातीत अद्भुत लीला को सुन और समझकर, उनके प्रति श्रद्धा का भाव दृढ़ करे, परन्तु जब उनकी प्रेम के विविध भावों की लीला सुने और देखे तो उस में इतना तन्मय हो जाए कि उनसे याद ही न रहे कि उसके प्रेम-भाव के पात्र साक्षात भगवान ही हैं। यह विस्मरण हुए बिना प्रेम की पराकाष्ठा उसकी परिपूर्णता हो ही नहीं सकती। ऐसी स्थिति में प्रेम-भक्ति का नाम ही लेना व्यर्थ है। माहात्म्य के सतत स्मरण के साथ-साथ भगवान के साथ लगाव आत्मीयता का नहीं, बल्कि उनके द्वारा अपनाए जाने का संबंध केवल परम कृपालु भक्त-वत्सल स्वामी और दीन, प्रपन्न, अकिंचन सेवक का ही हो सकता है। परन्तु हम देख चुके हैं कि आचार्य जी को वह संबंध प्रेम-भक्ति की पूर्ण अनुभूति के लिए अपर्याप्त लगता था। इसीलिए तो उन्होंने सूरदास से कहा था कि 'घिघियाना' छोड़कर भगवान की लीला का वर्णन करो—भगवान की लीला जिस में गोलोक या वृंदावन में अवतरित गोलोक की आनंद केलि के प्रतीक से भगवान के पूर्ण परमानंद रूप का आभास दिया गया है, लीला, जिसका लीला के अतिरिक्त और कुछ भी प्रयोजन नहीं है, लीला ही एक मात्र प्रयोजन है (नहि लीलायां किंचित् प्रयोजनमस्ति। लीलायां एवं प्रयोजनत्वात्।) लीला का यह आशय समझना कठिन है। उसे दूसरों को समझाना और भी कठिन है। परन्तु आचार्य जी को गऊघाट पर ही विश्वास हो गया था कि यह तरुण भक्त भक्ति की इस प्राथमिक शर्त को तो हृदयंगम किए ही हुए है कि संपूर्ण भाव से शरणागति की भावना, प्रपत्ति की भावना, को अपनाए बिना भक्ति संभव ही नहीं है। उन्हें विश्वास हो गया था कि सूरदास पूर्णतया प्रपन्न भक्त हैं। उनके विचार से उनमें कमी केवल यह थी कि वे केवल प्रपत्ति

भावना को अपनाए हुए विनम्र या दैन्य भाव से ही आत्म-निवेदन करते थे। जैसा आरंभ में कहा गया है, वल्लभाचार्य ने उन्हें भगवान की लीला के वर्णन की प्रेरणा देकर उनकी दबी हुई भाव-राशि, उनके दमन किए हुए कवि-सुलभ सौंदर्य-प्रेम और सहज मानवीय चित्त-वृत्तियों के प्रयत्नपूर्वक बंद किए हुए भाव-भंडार को खोलने और स्वच्छंदता के साथ आकर्षक रूप में प्रकट करने का रास्ता बता दिया—ऐसा रास्ता जिस पर चलकर संसार का कलुष परम पावन भक्ति-भाव बन कर धन्य बन जाता है।

आचार्य जी की कृपा से सूरदास को स्पष्ट हो गया कि भगवान की मानवीय लीला का वर्णन करने के लिए प्रेम संबंधी व्यापक रूप में कामभाव संबन्धी सभी चित्तवृत्तियों को खुल कर चित्रित किया जा सकता है, शर्त केवल यह है कि उन्हें निरा मानवीय न समझ लिया जाए। यह शर्त तभी पूरी हो सकती है, जब एक और प्रेम की भावना में यथेष्ट रूप में प्रपृत्ति का शरणागति का, अर्थात्, अनन्य भाव से केवल भगवान पर निर्भर रहने का भाव हो और दूसरी ओर भगवान के ऐश्वर्य, उनकी लोकातीत विभूति की वास्तविक प्रतीति हो। यह कार्य अत्यंत कठिन है। आचार्य इसका उपदेश दे सकता है, तार्किक ढंग से सैद्धांतिक विवेचन कर सकता है, परंतु सर्व-साधारण के हृदयों तक पहुंचा कर उनकी अनुभूति का अंग बना सकना शायद उसके लिए व्यापक रूप में संभव नहीं है। निरा श्रद्धालु भक्त, संभव है, इसे अनुभव कर सकता हो, परन्तु अपने अनुभव को दूसरों तक पहुंचना उसके लिए भी दुष्कर है। इसके लिए तो ऐसे कवि की प्रतिभा ही चाहिए, जो आचार्य के सिद्धांत को अप्रने बोध का अंग बनाते हुए और भावुक भक्त की श्रद्धा से अपने हृदय को आप्लावित करते हुए, शब्द और अर्थ पर इतना अधिकार रखता हो कि प्रेम की अनुभूति की स्वाभाविक प्रतीति भी कराता चले और साथ ही सांसारिकता—निपट लौकिकता के मोह और भ्रंम में भी न फँसने दे। भक्त कवि का यंह कार्य आसान नहीं है। अत्युक्ति न होगी, यदि हम कहें कि यह कार्य तलवार की धार पर चलने के समान है। इसमें दोनों तरफ फिसलने का डर है। यदि केवल माहात्मय ज्ञान दृढ़ हो गया तो प्रेम की भावना में वास्तविकता की अनुभूति और स्वाभाविकता नहीं आ सकती और उसका वर्णन भी काव्य की सच्ची सुंदरता और सरसता नहीं प्राप्त कर सकता, वह उपदेश और प्रचार की कोटि में रह जाएगा। दूसरी ओर यदि प्रेम-भावना लौकिक धरातल पर ही स्थित रह गई और वह मानवीय स्वाभाविकता में सीमित बनी रही तो भक्ति की ऊँचाई को नहीं छू सकती। इस दूसरी दशा में प्रेम-प्रसंगों का वर्णन काव्य की सरसता और सुंदरता से तो भरपूर होगा, परन्तु उसमें भक्ति की उच्चता और उदात्तता नहीं आ सकती, वह काव्य-रसिकों को भी रहस्यात्मक आभास देकर चमत्कृत नहीं कर सकता। सूर के कुछ दिनों के सान्निध्य और उनकी प्रतिभा के आरंभिक परिचय से आचार्य जी को संभवतः पूरा विश्वास हो गया था कि सूर तलवार की धार पर चल सकते हैं, उपर्युक्त दो प्रकार की फिसलन की कोई आशंका उनके विषय में नहीं हो सकती।

आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्गीय शुद्धाद्वैतवाद में भगवान को 'विरुद्ध धमश्रिय' कहा गया है। एक और तो वे निर्गुण निराकार, अजन्मा और अद्वैत हैं, परंतु दूसरी ओर अपने सत, चित और आनंद के संपूर्ण रूप को प्रकट करने के लिए वे अपने—गोलोक, निबांर्क, गौड़ीय, वैष्णव आदि मतों के अनुसार 'नित्य वृंदावन' के साथ, अर्थात् अपने 'अक्षर धाम' के संपूर्ण परिक—गोपी, गोप, निकुंज, लता आदि के साथ, मथुरा क्षेत्र में अवतरित हो कर मानवीय लीला करते हैं।

अवतारवाद की मान्यता में यह विरुद्ध/धर्म का विश्वास तो निहित है ही,वल्लभाचार्य ने केवल उसे अपना सैद्धांतिक नाम दिया है।

वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण भगवान के प्रति जिस प्रेम-भक्ति का प्रतिपादन किया, वह वास्तव में उस काल का युग-धर्म था। हम पीछे कह चुके हैं कि निंबार्क और मध्व के पुराने मतों के अनुयायियों तथा चैतन्य देव के गौड़ीय, वैष्णव, हित हरिवंश के राधावल्लभी और हरिदास के टट्टी संप्रदायों—सभी ने उस समय कृष्ण या राधाकृष्ण के प्रति प्रेम-भक्ति का सागर लहरा दिया था। हम आगे देखेंगे कि सूर ने केवल वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों के अनुसार प्रतिपादित प्रेम-लक्षणों भक्ति का ही नहीं, बल्कि विभित्र समसामयिक संप्रदायों की कर्मकाण्ड या सैद्धांतिक विवरण संबंधी विविधताओं, विभिन्नताओं और विरोधों का अतिक्रमण करके प्रेम-भक्ति के वर्णन-चित्रण की दृष्टि से सभी का प्रतिनिधित्व किया है।

स्नेह और महात्मय—सगुण लीला और अनादि, अनंत अजन्मा परब्रह्म की रूप-रेखाहीनता, अगमता, अगोचरता—की दो विरोधी बातों को मिलाने का कारण तो शायद आरंभ में ही सूरदास के अनुभव में आ गया था। मंगलाचरण के बाद 'सूरदास' की प्रतियों में यह बात दूसरे ही पद में कही गई है—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूंगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सवही जु निरंतर अमित तोप उपजावै।
मन-बानी कौ अगम-अगोचर सो जाने जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन पद गावै।

विचार के लिए भी सर्वथा अगम्य ब्रह्म जिसकी रूप, रेखा, गुण, जाति और युक्ति (संबंध या तर्क) से किसी प्रकार प्रतीति नहीं कराई जा सकती उसकी भावात्मक अनुभूति लीला के पदों के द्वारा कराने का संकल्प चाहे सूरदास ने आचार्य वल्लभ द्वारा दीक्षा लेने के पहले ही ले लिया हो, पर लीला की परिपूर्णता को हृदयंगम करने और कराने की प्रेरणा निश्चय ही उन्हें प्रेम-भक्ति में सभी मानवीय भावों को स्थान देने वाले उपर्युक्त कृष्ण-भक्ति संप्रदायों के द्वारा ही मिली। निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि आचार्य वल्लभ और उनका संप्रदाय इस प्रेरणा का सबसे प्रधान स्रोत था।

सूर की भक्ति-भावना ने जब 'घिघियाने' या दैन्य की अनुभूति करने के बंधन से बाहर निकल कर फैलने और सभी मानवीय चित्तवृत्तियों को समेटने का अवसर पाया, तब उनका कवि-हृदय खुल गया, उनके कवि-व्यक्तित्व को पूर्ण विकसित होने का खुला क्षेत्र मिल गया। ऊपर सूरदास के भक्त-कवि के रूप में प्रकट होने की शर्तों का उल्लेख किया गया है। संकेत किया गया है कि कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के वर्णन-चित्रण में प्रेम को भक्ति के रूप में सुरक्षित रखने के लिए दैन्य की आधारभूत अनुभूति और उसका अवसर के अनुकूल प्रकटीकरण तथा भगवान के माहात्मय का बारबार स्मरण दिलाना आवश्यक है। सूरदास ने यह कठिन कार्य खूबी के साथ निभाया। आगे हम देखेंगे कि आचार्य वल्लभ द्वारा श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा सौंपे जाने के बाद सूरदास गुरु के विश्वास को कैसी सुन्दरता के साथ निभा सके।

6. गुसाईं विट्ठलनाथ का साथ—भक्ति और काव्य का प्रसार

सूरदास को आचार्य जी के सत्संग का लाभ अधिक दिनों तक नहीं मिला। अपनी तीसरी 'पृथ्वी-परिक्रमा' या दिग्विजय यात्रा के क्रम में आचार्य वल्लभ तीसरी बार सन् 1509 के आस-पास ब्रज में आए थे, तभी सूर का सौभाग्य जागा था और उन्हें हरि-भक्ति के भावों को विस्तार देने की राह मिली थी। तीन दिन तक गऊघाट पर सूर को सत्संग, सदुपदेश और भागवत की 'सुबोधनी' व्याख्या का लाभ देने के बाद आंचार्य जी उन्हें गोकुल और फिर गोवर्धन पर श्रीनाथ जी के मंदिर में ले गए। आचार्यजी ने यहां भी संभवतः कुछ दिन बिताए और सूर के काव्यामृत का रस-लाभ लिया और उन्हें प्रेरणा और प्रोत्साहन देकर उनके भक्ति-भाव को और अधिक दृढ़ किया। इसी अवसर पर आचार्य जी ने कृष्णदास नाम के एक और भक्त को जो गुजरात के कुनबी जाति के थे, अपनी शरण में लिया और श्रीनाथ जी को इसी समय अंबाला के सेठ पूरनमल द्वारा बनवाए जा रहे नए मंदिर में प्रतिष्ठित किया। इसके बाद वे अपने निवास-स्थान अरइल (प्रयाग) वापस चले गए। 1510 ई० में बड़े पुत्र गोपीनाथ के जन्म, उसके कुछ समय बाद सपरिवार जगन्नाथ पुरी, काशी और चुनार की यात्रा और वहां 1515 ई० में दूसरे पुत्र विट्ठलनाथ के जन्म के पश्चात अरइल वापस आकर वल्लभाचार्य ने संभवतः चौथी बार ब्रज की यात्रा की और वहां क्रमशः दोनों पुत्रों का यज्ञोपवीत संस्कार तथा नंदोत्सव मनाया। कहते हैं कि इस अवसर पर सूरदास का निम्नलिखित पद विट्ठलनाथ के जन्म की बधाई के रूप में रचा गया था:—

(नंद जू) मेरे मन आनंद भयौ मैं गोवर्धन तैं आयौ। आदि।

ब्रज से आचार्य जी ने दूसरी बार जगन्नाथपुरी की यात्रा की और चैतन्यदेव से भेंट की। इस यात्रा से अरइल वापस जाने के बाद उनके चौथे प्रमुख शिष्य परमानंददास आचार्य जी की शरण में आए।

आचार्य वल्लभ का स्थायी निवास-स्थान अरइल में ही रहा, परन्तु दूसरी पुरी यात्रा के बाद वे प्रति वर्ष चतुर्मास (वर्षा ऋतु) ब्रज में ही बिताते थे और इस प्रकार उनके भक्तों को, जिनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते 84 हो गई थी, अपने धर्मोपदेश और संगीत और काव्य समन्वित भगवत-भजन का आनंद देते-लेते थे। सूरदास और उनके तीन अन्य कीर्तनकार साथी—कुंभनदास, कृष्णदास और परमानंददास—इस प्रकार आचार्य जी के सत्संग का लाभ 1530 ई० तक उठाते रहे और उनसे प्रोत्साहन पाकर काव्य की रचना करते रहे। 1530 ई० में आचार्य जी ने काशी जाकर गंगा-प्रवाह में गोलोक यात्रा की।

1530 ई० से 1538 तक आठ वर्ष गुसाईं गोपीनाथ ने पुष्टिमार्ग का आचार्यत्व (नेतृत्व) किया। उनका मुख्य निवास-स्थान अरइल ही रहा, परन्तु उन्होंने गुजरात में काफी समय बिता कर वहां धर्म-प्रचार किया। 1538 ई० में उनके छोटे भाई गुसाईं विट्ठलनाथ ने 23 की उम्र में संप्रदाय का आचार्यत्व संभाला। उस समय सूरदास की उम्र 60 वर्ष की हो चुकी थी। निःसंदेह वे उस समय तक काफी मात्रा में काव्य रचना कर चुके होंगे। अरइल में ही मुख्य रूप से शिक्षा ग्रहण कर 32 वर्ष (सन् 1542 ई०) में पहला विवाह और उससे सन् 1558 ई० तक 6 पुत्रों का लाभ प्राप्त करने के आठ वर्ष बाद गुसाईं विट्ठलनाथ 1566 ई० में अरइल छोड़ कर सपरिवार ब्रज में आ बसे। आरंभ में कुछ दिन गोकुल रहकर उन्होंने चार वर्ष तक मथुरा में निवास किया और फिर 1571 ई० से

गोकुल में स्थायी निवास-स्थान बना लिया। पहले कह चुके हैं कि 1566 ई० में उन्हें अकबर का पहला शाही फरमान मिला और उसके बाद उनके नाम से शाहजहां के समय तक फ़रमान मिलते रहे। गोकुल में आने के दूसरे वर्ष 1567 में विट्ठलनाथ ने दूसरा विवाह किया था जिससे उन्हें एक पुत्र की और प्राप्ति हुई।

बड़े होने पर अपने सातों पुत्रों को कृष्ण के सात स्वरूप देकर तथा सात पीठों पर उनकी स्थापना करने के अतिरिक्त गुसाईं विट्ठलनाथ ने अनेक शिष्य बनाए जिनमें 254 भक्तों की बड़ी प्रसिद्धि हुई। आचार्य वल्लभ के 84 ('चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में उल्लिखित 92) और विट्ठलनाथ के 252 भक्तों तथा विभिन्न स्थानों पर स्थापित सात पीठों पर प्रतिष्ठित गुसाईं जी के सात पुत्रों के द्वारा कृष्ण भक्ति का कैसा प्रचार हुआ होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। गुसाईं विट्ठलनाथ के चौथे पुत्र गुसाईं गोकुलनाथ ने अपने पितामह और पिता के लगभग साढ़े तीन सौ भक्तों के चरित्रों की वार्ताएं कह कर और प्रचारित कर कृष्ण भक्ति के भव्य वातावरण की सृष्टि में अनन्य योग दिया।

परन्तु इन सैकड़ों भक्तों में सिरमौर निःसंदेह सूरदास ही थे और इसका कारण उनकी उच्च भक्ति-भावना के साथ-साथ उनकी कवि-प्रतिभा थी। अपने पिता के समान ही गुसाईं विट्ठलनाथ में भी बड़ी दूरदर्शिता और सूझ-बूझ थी, संभवतः उनमें संगठन-शक्ति और अधिक थी। तभी तो उन्होंने अपने पिता और स्वयं अपने सैकड़ों भक्तों में से चुनकर आठ ऐसे भक्तों को जो उच्च कोटि के कवि और गायक थे, विशेष रूप से नामित कर उन्हें 'अष्टछाप' के भक्त कवि के रूप में महत्व दिया। इन आठ भक्त कवि-गायकों में चार—सूरदास, कुंभनदास, कृष्णदास और परमानंददास—महाप्रभु वल्लभ के शिष्य थे और चार—चतुर्भुजदास, गोविंददास (या गोविंद स्वामी) छीतस्वामी और नंददास—स्वयं गुसाईं जी के शिष्य थे। इन्हें 'अष्टसखा' के नाम से भी प्रसिद्ध किया गया। गोवर्धन नाथ जी के प्राकट्य की वार्ता के अनुसार अष्टसखाओं में सूरदास स्वयं कृष्ण थे और कुंभनदास अर्जुन, कृष्णदास ऋषभ, परमानंददास तोक, चतुर्भुजदास विशाल, गोविंद स्वामी श्रीदामा, छीतस्वामी सुबुल और विष्णुस्वामी (या नंददास?) भोज थे। इससे भी सूर का सर्वाधिक महत्व प्रकट होता है।

ये सभी कवि श्रीनाथ जी के कीर्तन की सेवा में अपना भक्ति-भाव प्रकट करते थे। सूरदास का सारा जीवन श्रीनाथ जी की सेवा में ही बीता। श्रीनाथ जी के मंदिर से वे कभी-कभी नवनीतप्रिय के दर्शन करने गोकुल चले जाते थे। एक बार नवनीतप्रिय के दर्शन करके सूरदास ने गुसाईं जी को बहुत से बाल-लीला के पद सुनाए, जिन्हें सुनकर गुसाईं जी इतने प्रसन्न और प्रेरित हुए कि उन्होंने स्वयं एक 'पालना' का पद संस्कृत में रच कर सुनाया और सूरदास ने उसे नवनीतप्रिय जी के सम्मुख गाकर प्रस्तुत किया। इसी भाव के अपने कुछ पद भी उस समय सूरदास ने गाए, जैसे :—

बाल-विनोद आंगन की डोलनि।
मनिमय भूमि नंद के आलय, बलि-बलि जाऊं तोतरे बोलनि।
कठुला कंठ कुटिल केहरि नख, बज-माल बहु लाल अमोलनि।
बदन सरोज तिलक गौरोचन, सट लटकनि मधुकर गति डोलनि।
कर नवनीत परस आनन सौं, कछुक खात-कछु लग्यो कपोलनि।
कहि जन सूर कहां लौं बरनौं, धन्य नंद जीवन जग तोलनि।

नवनीतप्रिय कृष्ण के बाल-विनोद के एक स्वाभाविक और हृदयाकर्षक चित्र के साथ सूर अंत में वात्सल्य भाव की भक्ति भावना का भी असंदिग्ध संकेत करते जाते हैं। माखन चोरी लीला का एक अन्यपद भी सूर ने इसी समय सुनाया :—

गोपाल दुरे हैं माखन खात।
देखि सखी सोभा जु बनी हैं, स्याम मनोहर गात।
उठि अवलोकि ओठ ठाढ़े ह्वै, जिहिं विधि हैं लखि लेत।
चक्रित नैन चहूंदिसि चितवत और सखनि कौ देत।
सुंदर कर आनन समीप अति राजत इहिं आकार।
जलरुह मनौ बैर बिधु सौं तजि, मिलत लए उपहार।
गिरि गिरि परत बदन तें उर पर हैं दधि सुत के बिंदु।
मानहु सुभग सुवाकन बरषत प्रियजन आगम इंदु।
बाल-विनोद बिलोकि सूर प्रभु सिथिल भई ब्रजनारि।
फुरै न बचन बरजिवैं कारन, रहीं बिचारी-बिचारी।।

पहले पद में सूर ने माखन खाते हुए बाल कृष्ण का एक वात्सल्य व्यंजक स्थिर चित्र खींचा है। परन्तु दूसरा पद चोरी सें माखन खाने की क्रिया का एक गतिमान चित्र है। मनोहर कृष्ण छिपकर माखन खा रहे हैं। कोई देखता तो नहीं है, इस शंका से वे बार-बार इधर-उधर देखकर अपने सखाओं को भी देते जाते हैं। एक गोपी उनकी इस चतुरता, चंचलता और रूप की सुंदरता पर मुग्ध होकर अपने हर्ष को संभाल नहीं पाती। वह अपनी सखी को बुलाकर अपने हर्ष में उसे भी शामिल करने को आतुर हो जाती है। सूर गोपी की दृष्टि के सामने अपनी कवि-कल्पना के चमत्कार से एक अद्‌भुत दृश्य उपस्थित कर देते हैं। कृष्ण कमल से कोमल हाथ में माखन लेकर चन्द्र जैसे मुख के पास ले जाते हैं तो प्रतीत होता है कि कमल चन्द्रमा के साथ अपना शाश्वत वैर भुला कर उसे उपहार भेंट कर रहा है। इस प्रकार माखन खाते हुए माखन के कुछ कण मुख से गिरकर कृष्ण के वक्ष पर गिरते जाते हैं तो ऐसा लगता है कि चन्द्रमा भी कमल को प्रियजन मान कर उसके आगमन की खुशी में अमृत बरसा रहा है। कृष्ण गोपी के घर में चोरी से माखन खा रहे हैं, परन्तु अपनी इस हानि को वह भूल जाती है। वह कृष्ण की इस चंचल, चतुर छवि को देखकर शिथिल हो जाती है। सोचती है कैसे इन्हें रोकूं। मन को लुभाने वाली ऐसी सुन्दरता पर माखन क्या, जीवन निछावर किया जा सकता है।

क्या विनय और दीनता की भावना में सुन्दरता के अवलोकन की यह दृष्टि खुल सकती थी? कल्पना को इस प्रकार की सौंदर्य-सृष्टि करने का उस समय अवसर ही कहां था? परन्तु दैन्य-भावना के घेरे से निकलने पर सूरदास की अंधी आँखों के सामने जल, थल और गगन के अनगिनत सुंदर दृश्यों का खजाना खुल गया और सूर ने उसे न केवल उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म छवि को निहार कर सराहा, बल्कि उन दृश्यों को देख कर उनकी कल्पना-शक्ति इतनी उद्‌बुद्ध और सक्रिय हो गई कि वे ब्रह्मा की सृष्टि में —आकाश पाताल और स्वर्ग में-कहीं न मिल सकने वाले नए-नए दृश्यों की रचना करने लगे और सुंदरता का यह संपूर्ण विधान उन्होंने अपनी प्रेरणा के केन्द्र

अपने इष्टदेव पर निछावर कर दिया। वास्तव में क्षणभंगुर सांसारिक सुंदरता परम सुंदरता की मूर्ति श्रीकृष्ण पर निछावर हो कर ही सार्थक हो सकती है। परन्तु संसार की सुंदरता के माध्यम से क्या यह संभव है कि उस परम सुंदर का वर्णन हो सके? यह संभव नहीं है,? अधिक से अधिक उसका थोड़ा सा अभास दिया जा सकता है। सूरदास ने गुसाईं जी को निम्नलिखित जो एक और पद गा कर सुनाया उससे इस भावना का संकेत मिलता है:—

कहाँ लौं बरनौं सुंदरताई।
खेलत कुंवर कनक आंगन मैं, नैन निरखि छबि पाई।
कुलही लसति सिर स्याम सुंदर कैं, बहुविधि सुरँग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई।
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मन मोहन-मुख बगराई।
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिरि आई।
नील, सेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुलाई।
सनि, गुरू-असुर, देवगुरू मिलि भौम सहित समुदायी।
दूध-दंत-दुति कहि न जाति कछु अद्भूत उपमा पाई।
किलकत, हँसत दुरति प्रगटति मनु, घन में बिज्जु छटाई।
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाई।
घुटरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, सूरदास बलि जाई।

नंद का आंगन सोने से मढ़ा हुआ है। उस पर कुंवर कान्ह घुटनों चल रहे हैं। सूरदास अपने युग के अनुसार उन्हें वस्त्राभूषण से सजा कर उनकी शोभा को देखते हैं और अनुभव करते हैं कि उस शोभा ने हमारे नेत्रों को ही शोभायमान बना दिया है। श्यामसुन्दर के सिर पर बड़ी विधि से बँधी हुई लाल कुलही नए बादलों पर शोभित, चढ़े हुए इन्द्रधनुष के समान लगती है। मृदुल कपोलों पर लटकती, बिखरी हुई मनोहर अलकें खिले कमल पर मँडराते हुए सुन्दर भ्रमरों की पाँत की तरह लगती हैं। माथे पर लटकता हुआ नीली, सफेद, पीली और लाल मणियों का लटकन शनि, शुक्र, बृहस्पति और मंगल के सम्मिलन का दृश्य प्रकट करता है। कृष्ण जब किलकते-हंसते हैं और उनके दूंध के दांतों की चमक प्रकटती और छिपती शोभायमान होती है, तो लगता है बादलों में रह-रह कर बिजली चमक जाती है। इस प्रकार घुटनों चलते, तुतला कर खंडित वचन बोलते हुए, धूल से सने कृष्ण के रूप को देखकर सूर पूर्ण सुख का अनुभव करते और बलिहारी जाते हैं।

कृष्ण की लोकातीत बाल-शोभा का वर्णन करते-करते सूर की कल्पना कभी-कभी शब्दों के सामान्य अर्थ को छोड़ने के लिए उन्हें विवश कर देती थी और वे ऐसी शैली का प्रयोग करने लगते थे जिसका अर्थ समझना साधारणतया अत्यंत कठिन होता था। नवनीतप्रिय के मंदिर में गुसाईं जी को उन्होंने ऐसा भी एक पद सुनाया:—

देखौ सखि एक अद्भुत रूप।
एक अंबुज मध्य देखियत बीस दधि-सुतजूप।
एक सुक तँह दोइ जलचर उभय अर्क-अनूप।

पच बिरचे एक हीं ढिंग कहौं कौन सरूप।
भई सिसुता माहिं सोभा करौ अर्थ बिचारि।
सूर श्री गोपाल की छबि राखिए उर धारि।।

सूर के हृदय में बसी गोपाल की छवि वास्तव में वर्णनातीत है। इसी का संकेत केवल उपमाओं के उल्लेख से मानों कल्पना को चुनौती देने वाली शब्दावली से सूर देना चाहते हैं। कमल के मध्य बीस उदधिसुत (मोती), एक शुक्र, दो मीन, दो सूर्य—ये पांचों क्रमशः मुख मण्डल दांत, नाक, नेत्र और कुंडल के रूप में एक साथ दिखाई दे रहे हैं।

परंतु सूर ने केवल बाल-छवि और बाल-लीला तक ही हरि की लीला का वर्णन सीमित नहीं रखा। उन्होंने वात्सल्य भाव के अलावा सख्य और माधुर्य को भी भरपूर अपनाया और भागवत में वर्णित पूरी लीला को प्रेम भक्ति के अनन्य भाव के अनुसार आवश्यकतानुसार मोड़ कर नए-नए प्रसंगों को जोड़ कर उसे बहुत विस्तार दिया।

अष्टछाप के प्रमुख कवि के रूप में सूर को अष्टसखाओं में प्रमुख कृष्ण तक कह दिया गया है। गुसाईं हरिराय ने इन अष्टसखाओं को गिरिराज गोवर्धन के आठ द्वारों का अधिकारी बताते हुए सूर को गोविंदकुंड के ऊपर आने वाले द्वार का मुखिया या अधिकारी कहा है। दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों की भक्ति में सूर की भक्ति को सखा भाव की भक्ति कहा गया है। परंतु सूर ने कृष्ण के शैशव और बाल्य काल की क्रीड़ाओं—पूतना, तृणावर्त, शकट आदि के वध, नामकरण, कनछेदन आदि संस्कारों, उत्तरोत्तर बड़े होने की क्रमिक क्रीड़ाओं, माखन चोरी, ऊखल बंधन, यमलार्जुन उद्धार, आदि प्रसंगों में वात्सल्य भाव का प्रमुख रूप में चित्रण किया है और ऐसा दर्शाया है मानो वे नन्द, यशोदा आदि के संपूर्ण भावों को आत्मसात किए हुए हैं। उसी प्रकार कृष्ण के नन्द के घर से बाहर निकल कर खेलने की अवस्था के वर्णन में वृन्दावन-बिहारी के गोचारण, बकासुर-वध, अघासुरवध, कालिय दमन के प्रसंग में गेंद खेलने आदि का वर्णन करते हुए वे कृष्ण के सखाओं—सुबल, श्रीदामा आदि के भावों को अपना कर सखा रूप में प्रकट हुए हैं। परंतु इतना ही नहीं, सबसे अधिक विस्तार तो उन्होंने गोपियों के मधुर अर्थात्, स्त्री-पुरूष के काम भाव के प्रेम का चित्रण किया है और इसी को प्रेम की सबसे घनीभूत स्थिति के रूप में प्रमाणित किया है। राधा कृष्ण की आहलादिनी शक्ति उनकी अर्धांगिनी ही है। यह माधुर्य भाव आचार्य वल्लभ के समय में पुष्टिमार्ग में विकसित नहीं हुआ था। इसका विकास और महत्व गुसाईं विट्ठलभाई के आचार्यत्व में हुआ और उसके विकास और महत्व ग्रहण करने में गौड़ीय वैष्णव, राधावल्लभी, हरिदासी आदि उन सम-सामयिक सम्प्रदायों का योग भी निश्चय ही है, जिनमें माधुर्य भाव को ही अधिक महत्व दिया गया है।

गुसाईं विट्ठलनाथ ने श्रीनाथ जी की 'सेवा' (आठ समय की आरती) की व्यवस्था करके और व्यापक रूप में धर्म प्रचार की योजना कार्यान्वित करके जहां पुष्टिमार्ग को परिपुष्ट संगठन का रूप दिया, वहां उन्होंने कृष्ण भक्ति के भाव-विकास की भी उपेक्षा नहीं की। पहले श्रीनाथ जी के व्रतोत्सवों में राधा का कोई स्थान नहीं था, परन्तु विट्ठलनाथ ने वर्षोत्सवों में राधा के जन्मोत्सव को भी सम्मिलित किया। उन्होंने 'श्रृंगार रस-मंडन' नामक ग्रंथ की रचना करके माधुर्य भाव को गोपाल

कृष्ण की पुष्टिमार्गीय भक्ति के भावों में समुचित स्थान प्राप्त करने का रास्ता निकाला। वस्तुतः अष्टछाप के सभी भक्त कवि विशेष रूप से, और 'वार्ता साहित्य में वर्णित अन्य भक्तों के चरित सामान्य रूप से, माधुर्य भाव को निःसंकोच अपनाए हुए देखे जाते हैं। कहा जाता है, और यह सही ही है कि माधुर्य भाव को अपनाना आचार्य वल्लभ द्वारा स्वयं अनुमोदित है। इसकी पुष्टि में उनका निम्नलिखित श्लोक प्रमाण रूप उद्धृत किया जाता है:—

यच्च दुःखं यदोशाया नंदादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुंख स्वांन्मम क्वचित।

इसके अनुसार सिद्ध होता है कि गोकुल में यशोदा और नन्द आदि द्वारा कृष्ण-वियोग में अनुभव किए गए वात्सल्य भाव के दुःख को ही नहीं, बल्कि गोपियों के वियोग-दुःख को भी अपनाने की कामना आचार्य वल्लभ के भक्त-हृदय में थी। सांप्रदायिक सिद्धांत की बात कुछ भी हो, जहां तक सूरदास की बात है, उनके काव्य में हम जहां यह देखते हैं कि उन्होंने वात्सल्य और सख्य भावों को कृष्ण लीला के वर्णन में ऐसा चित्रित किया जैसा कभी कोई और कवि नहीं कर सका, वहां माधुर्य या कांता भाव की लीलाओं का अपेक्षाकृत और भी अधिक विस्तार और गहराई के साथ सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करने में काव्य-कुशलता की चरम सीमा प्रस्तुत कर दी। सूरदास के काव्य में सत्तर प्रतिशत अंश माधुर्य भाव का है।

अतः यदि हम मानें कि आचार्य वल्लभ ने सूर को भक्ति के भाव में विकास और विस्तार करने का रास्ता दिखा दिया, उन्हें हरि-लीला का रहस्य बताते हुए उसमें लीन होने की प्रेरणा खोल दी, तो यह भी कह सकते हैं कि सूर ने उस रास्ते पर चल कर उस रहस्य को समझ कर और उस प्रेरणा को ग्रहण कर स्वयं अपना रास्ता इतना चौड़ा कर लिया कि उस पर सभी छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष सहज और स्वच्छंद भाव से चल सकते हैं। भक्ति के मार्ग को भाव विस्तार देने में सूर को गुसाईं विट्ठलनाथ से संप्रदाय को सिद्धांत का अनुमोदन अवश्य मिला। गुसाईं विट्ठलनाथ प्रेम-भक्ति के इस स्वाभाविक भाव-विकास की कैसे उपेक्षा कर सकते थे? श्रीमद्भागवत में भी तो कहा है:—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतौ यांति तन्मयतांहिते।

जिसे सूरदास ने दानलीला के प्रसंग में इस प्रकार व्यक्त किया—

काम क्रोध भय नेह सुहृदता काहू विधि करहे कोई।
धरै ध्यान हरि को जो दृढ़ करि सूर सो हरि सम होई।।

संप्रदाय की दृष्टि से सूर के भक्ति-काव्य के इस विकास का लाभ गुसाईं विट्ठलनाथ को मिला, यह कहना सर्वथा उचित है।

7. ख्याति और मान्यता

सूरदास के जीवन का अधिकांश समय गोवर्धन, गोकुल, वृन्दावन और मथुरा में ही बीता। निःसन्देह श्रीकृष्ण की लीला-भूमि के प्रति उनके मन में बहुत पवित्र भाव था और वे ब्रज से पल भर भी वियुक्त नहीं होना चाहते थे। ब्रज के उपर्युक्त स्थानों में भी उन्हें अधिक प्रिय स्थान वे ही थे जिनके साथ कृष्ण की नन्द, यशोदा, गोप, गोपी और राधा से संबंधित प्रेम की लीलाओं के प्रसंग जुड़े हुए हैं। अपने इष्टदेव के नन्द-नन्दन, यशोदा-नन्दन, गोपाल, गोप-सखा, गोपीनाथ और राधावल्लभ रूप ही उन्हें प्रिय थे। वसुदेव-सुत, देवकीनन्दन, कंस-निकन्दन भी उनकी श्रद्धा और भक्ति के पात्र थे, परन्तु उनके साथ वैसा हार्दिक अनुराग नहीं था। इसी कारण मथुरा नगरी और वहां के निवासियों के विषय में उनका वही भाव था जो एक सरल ग्रामवासी का नगर और वहां के नगरों के प्रति होता है। निष्छल, निष्कपट ग्रामवासी की तरह सूरदास का भी विचार था कि ऐश्वर्य, वैभव, सांसारिक संपन्नता आदि का मद, मत्सर, आडंबर और अहंकार के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। जन्म से या कम से कम बाल्यावस्था से ही जिसके मन में वैराग्य का भाव दृढ़ हो गया हो, उसके लिए तो यह भी स्वाभाविक है। फिर भी सूरदास मथुरा के प्रति एक संभ्रमपूर्ण आदर का भाव अवश्य रखते थे। श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर उनके स्वागत में सजी हुई मथुरा नगरी का सूर ने अनेक पदों में बड़ा भव्य वर्णन किया है, जैसेः —

श्री मथुरा ऐसी आजु बनी।
जैसें पति कौ आगम सुनि कैं, सजति सिंगार घनी।
कोट मनौ कटि कसी किंकिनी, उपवन बसन सुरंग।
भूषन भवन विचित्र देखियत, सोभित सुंदर अंग।
सुनत स्रवन घरियार घोर धुनि, पाइनि नूपुर बाजत।
अति संभ्रम अंचल चंचल गति, धामनि धुजा विराजत।
ऊर्ध अटनि पर छत्रनि की छबि, सीसफूल मनौ फूली।
कनक-कलस कुच प्रगट देखियत, आनंद कंचुकि भूली।
विद्रुम फटिक रचित परदनि पर, जालरंध्र की रेख।
मनहु तुम्हारे दरसन कारन, भूले नैन-निमेष।
चित दै अवलोकहु नंदनंदन, पुरी परम रुचि रूप।
सूरदास-प्रभु कंस मारि कै होहु इहाँ के भूप।।

द्रष्टव्य है कि इस पद में आगत-पतिका के समान मथुरा के श्रगांर सज्जित लावण्य का कारण पति-रूप श्री कृष्ण का आगमन ही है। उससे अधिक यह ध्यान देने योग्य है कि मथुरा के इस संपूर्ण वैभव का परिवेश धार्मिक है, राजसी नहीं। कंस के दरबार के वैभव को यह भक्त कवि फूटी आंख भी नहीं देख सकता। सूर उसकी ओर से सचमुच निपट अन्धे ही रहे। और, कंस-वध के बाद सूर ने मथुरा का जो वर्णन किया है, वह अलंकारपूर्ण भाषा में नहीं, बल्कि ऐसे यथार्थ रूप में किया है, जैसे संभवतः स्वयं उन्होंने अपने समय में देखा होः—

मथुरा दिन दिन अधिक विराजै।
तेज प्रताप राय कैसौ कैं तीनि लोक मैं गाजै।
पग-पग तीरथ कोटिक राजैं, मधि विश्रांत बिराजैं।
करि अस्नान प्रात जमुना कौ जनम भरम भय भाजै।
बिट्ठल बिपुल बिनोद बिहारन ब्रज कौ बसिवौ छाजै।
सूरदास सेवक उनहीं कौ कृपा सु गिरिधर राजै।

भक्ति के भाव से तो मथुरा की शोभा तभी अधिक वर्णनीय है, जब वह कंस के आतंक से मुक्त हो जाय। परन्तु संभवतः इस पद में सूर के व्यक्तिगत अनुभव का भी संकेत है। हम पीछे कह चुके हैं कि अरइल से प्रवासित हो कर गुसाईं विट्ठलनाथ 1566 से 1571 ई॰ तक लगभग चार वर्ष मथुरा में रहे थे। मथुरा में रहते हुए गुसाईं जी ने मथुरा के भक्ति-भजन, संगीत-कीर्तन, सत्संग-उपदेश के वातावरण को और अधिक निखारा होगा। निश्चय ही सूरदास भी उस अवधि में समय-समय पर मथुरा आते रहते होंगे। यद्यपि उस समय उनकी उम्र 90 वर्ष के आस-पास थी, और वे गुसाईं विट्ठलनाथ से 37 वर्ष बड़े थे फिर भी आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित होने के कारण उनके प्रति सूर के मन में अपार श्रद्धा थी। तभी तो उन्होंने अपने को उनका सेवक कह कर गौरव का अनुभव किया। इस पद की अन्तिम पंक्ति में "गिरिधर" की कृपा का उल्लेख किया गया है। बहुत संभव है कि उसमें गुसाईं विट्ठलनाथ के बड़े पुत्र गिरिधर का संकेत हो जिनकी उम्र उस समय 26 और 30-31 वर्ष के बीच रही होगी।

इस समय तक सूरदास की ख्याति चारों और फैल गई थीं। कृष्णभक्ति के प्रचार में उनके द्वारा रचे गए पद गुजरात तक प्रचलित हो गए थे, इसका प्रमाण गुजरात के सम-सामयिक कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं से मिलता है। अष्टछाप के अन्य कवि-कुंभनदास, कृष्णदास, परमानंददास आदि उनकी रचनाओं से प्रेरणा और उदाहरण लेते थे1 गुसाईं हरिराय ने लिखा है कि एक बार परमानंददास और अन्य वैष्णवों को उन्होंने भक्ति का माहात्मय समझाते हुए योगमार्ग का खंडन किया था। कुंभनदास और परमानंददास के साथ उनका सभंवतः सबसे अधिक सम्पर्क था, क्योंकि तीनों ही पर श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा की जिम्मेवारी थी। हरिराय के अनुसार जब कुंभनदास और परमानंददास की कीर्तन की बारी होती थी, तब सूरदास नवनीतप्रिय जी के दर्शन करने के लिए गोकुल जाते थे। हरिराय ने सूरदास के माहात्मय के अनेक उदाहरण दिए हैं, जैसे, उन्हीं की कृपा से एक लोभी बनिया को श्रीनाथ जी के दर्शन मिले थे, स्वयं श्रीनाथ जी उन पर इतने कृपालु थे कि एक बार भोजन करते समय सूरदास के गले में कौर अटक गया, उनका सेवक गोपाल आस-पास नहीं था, अतः स्वयं श्रीनाथ जी ने सेवक गोपाल के रूप में जल की झारी (सुराही) उनके आगे रखी और उन्होंने जल पिया।

एक बार सूरदास जी मार्ग में चले जा रहे थे — शायद नवनीतप्रिय जी के दर्शन करने या वहां से लौटते हुए। उनके साथ कुछ अन्य भक्त भी थे। रास्ते में देखा कि कुछ लोग चौपड़ खेल रहे हैं और उसमें इतने लवलीन हैं कि किसी के आने-जाने की भी उन्हें सुध नहीं है। सूरदास ने साथियों से कहा — देखो, मनुष्य देह पा कर ये लोग उसे कैसे नष्ट कर रहे हैं! इस लोक में तो इन्हें अपयश मिलता ही है, इनका परलोक भी बिगड़ता है। परन्तु चौपड़ के खेल में अपने को भूल जाने की

तन्मयता से सूरदास अवश्य प्रभावित हुए और उन्होंने वहीं एक पद रचकर अपने साथियों को सुनाया और उसमें बताया कि चौपड़ का असली खेल कैसा होना चाहिए। उन्होंने कहा :—

मन तू समुझि सोच विचार।
भक्ति बिन भगवान दुर्लभ कहत निगम पुकार।
साधु संगति डार पासा फेर रसना सार।
दाँव अब कै पर्‌यो पूरौ उतरि पल्ली पार।
वाक सत्रह सुनि अठारह पंच ही को मार।
दूर तैं तज तीन काने चमकि चौंकि विचार।
काम-क्रोध जंजाल भूल्यौ ठग्यो ठगिनी नार।
सूर हरि के पद भजन बिन चल्यौ दोउ कर झार।।

साथी भक्तों को सूर ने इस पद का भाव भी व्याख्या करके समझाया, जिससे उनके चौपड़ के खेल की जानकारी के साथ उनके आध्यात्मिक ज्ञान का भी परिचय मिलता है। सूर के विनय संबंधी पदों में एक और लंबे पद में चौपड़ के रूपक का प्रयोग किया गया है। इस पद का आरंभ और अंत इस प्रकार है: —

चौपरि जगत मुड़े जुग बीते।
गुन पांसे, क्रम अंक, चारि गति सारि न कबहुं जीते।
× × ×
बाल, किसोर, तरून, जर, जुग सो सुपक सारि ढिग ढारी।
सूर एक पौ नाम बिना नर फिरि-फिरि बाजी हारी।।

एक अन्धे कवि के लिए चौपड़ के खेल की ऐसी सूक्ष्म जानकारी विस्मयजनक है। श्रीनाथ जी के भजन, काव्य, रचना और कीर्तन-गायन के अतिरिक्त उनके जीवन का कभी और भी कुछ व्यापार रहा होगा, इसकी कोई जानकारी नहीं है। वे मथुरा तो कभी-कभी जाते होंगे, विशेष रूप से उस काल में अधिक जाते होंगे, जब गुसाईं विट्‌ठलनाथ वहाँ चार वर्ष तक रहे थे। परन्तु आगरा या सीकरी जाने का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। हम पीछे कह चुके हैं कि अकबर के किसी इतिहासकार ने, वस्तुतः आगे-पीछे भी फ़ारसी के किसी इतिहासकार ने हमारे इन सूरदास का कहीं उल्लेख भी नहीं किया। सिकंदर लोदी और वल्लभाचार्य तथा अकबर और पुष्टिमार्ग के तत्कालीन आचार्य विट्‌ठलनाथ के बीच अच्छे संबंध होने के बावजूद, जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, सूरदास के आगरा-फतेहपुर सीकरी या दिल्ली के साथ किसी प्रकार के सम्पर्क का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अष्टछाप के भक्त कवियों में केवल कुंभनदास के फतेहपुर सीकरी जाने का उल्लेख चौरासी वैष्णवन की वार्ता में है। पीछे उसका उल्लेख करते हुए हमने संकेत किया है कि इन भक्त कवियों को अकबर जैसे उदार, गुणग्राही और विश्वविख्यात ऐश्वर्यशाली सम्राट की जरा भी परवाह नहीं थी। परन्तु भक्तों की वार्ताओं और पीछे उल्लिखित शाही फ़रमानों से यह विदित होता है कि अकबर को अपने समय के भक्तों, धार्मिकों, कवियों और गायकों से मिलने का चाव अवश्य था। जिस प्रकार कुंभनदास फतेहपुर सीकरी जा कर पछताए, उसी प्रकार कदाचित अकबर को भी अनुभव हुआ

होगा कि कृष्ण की एकमात्र शरणागति की इच्छा करने वाले ये भक्त कवि-गायक राज-दरबार में आकर प्रसन्न नहीं रह सकते। अतः उन्होंने और तरह से उनसे सम्पर्क करने का उपाय किया। अनेक भक्त कवियों की वार्ताओं में उल्लेख है कि अकबर वेश बदल कर उनका संगीत सुनने के लिए आते थे। अतः यह स्वाभाविक है कि सूरदास जैसे प्रसिद्ध भक्त कवि से मिलने और उनके काव्य और संगीत का रसास्वादन करने की भी इच्छा उनके मन जागी हो।

सूरदास की 'वार्ता' में लिखा है कि सूरदास द्वारा रचित 'सागर' के नाम से विख्यात सहस्तरवधि पदों की प्रशंसा देशाधिपति, अर्थात, अकबर बादशाह ने भी सुनी और उनके मन में सूरदास से मिलने की इच्छा पैदा हुई। गुसाईं हरिराय ने लिखा है कि अकबर के दरबार के प्रसिद्ध गायक तानसेन ने एक बार सूर का एक पद अकबर के सामने गाया, जिसे सुन कर बादशाह इतने मुग्ध हो गए कि उन्होंने मथुरा जा कर सूरदास से मिलने का निश्चय किया। इसके बाद दिल्ली से जब वे आगरा आए तो उन्होंने अपने कर्मचारियों को आज्ञा दी कि सूरदास कहाँ हैं इसका पता लगा कर उन्हें मथुरा में बताएं। यह मालूम होने पर कि सूरदास भी मथुरा में ही हैं, अकबर ने उन्हें अपने पास बुलाया।

अकबर और सूरदास की इस 'वार्ता' और हरिराय के द्वारा वर्णित भेंट के समय का अनुमान किया गया है। तानसेन अकबर के दरबार में सन् 1563 में आए थे। अतः यदि हरिराय का कथन सही है तो यह भेंट 1563 ई॰ के बाद ही हुई होगी। गुसाईं विट्ठलनाथ सन् 1566 से 1571 ई॰ तक मथुरा में रहे थे, और, जैसा कि संकेत किया गया है, उन दिनों सूरदास कभी-कभी मथुरा जाते रहे होंगे। अतः संभव है, अकबर और सूरदास की भेंट सन् 1566 और 1571 ई॰ के बीच् ही किसी समय हुई होगी। अथवा, यह भी अनुमान किया जा सकता है कि यह भेंट सन् 1576 के आसपास हुई हो, जब अकबर को संपूर्ण उत्तर भारत पर विजय करके शांतिपूर्वक बैठने का अवसर मिला होगा। सन् 1575 ई॰ में उन्होंने फतेहपुर सीकरी में इबादतखाना बनवाया था और साधु-संतों को बुलाने और इकट्ठा करने का क्रम डाला था। जो हो, अकबर और सूरदास की भेंट का 'वार्ता' में दिया हुआ विवरण बहुत रोचक है। उससे पुनः प्रकट होता है कि ये कृष्णाश्रित भक्त कवि कितने निरीह और स्वतन्त्र वृत्ति के व्यक्ति थे तथा उन्हें सांसारिक वैभव से कितनी अरुचि थी।

सूरदास के आने पर अकबर ने उनकी बहुत आवभगत की और तत्पश्चात कुछ पद सुनाने की प्रार्थना की। सूर ने वैराग्य, भक्ति और प्रबोधन का निम्नलिखित लंबा पद गाया जिसमें अनेक सुन्दर, सरस उपमानों के सहारे प्रेम-भक्ति का प्रतिपादन तथा भगवान की असीम कृपालुता का वर्णन किया गया है: —

मन रे, माधव सौं करि प्रीति।
काम-क्रोध-मद-लोभ तू, छाँड़ि सबै बिपरीति।
भौंरा भोगी बन भ्रमै, (रे) मोद न मानै ताप।
सब कुसुमनि मिलि रस करै, (पै) कमल बँधावै आप।
सुनि परिमिति प्रिय प्रेम की, (रे) चातक चितवन पारि।
धन आसा सब दुख सहै, (पै) अनत न जाँचै बारि।
देखौ करनी कमल की, (रे) कीन्हौ रवि सौं हेत।

प्रान तज्यौ, प्रेम न तज्यौ, (रे) सूख्यौंस लिल समेत।
दीपक प्रेम से जानई, (रे) पावक परत पतंग।
तनु तौ तिहि ज्वाला जर्यौ, (पै) चित न भयौ रस भंग।
मीन बियोग न सहि सकै, (रे) नीर न पूछै बात।
देखि जो ताकी गतिहिं (रे) रति न घटै तन जात।

इस प्रकार भ्रमर, चातक, कमल, पतंग, मीन, परेवा (कबूतर), कुरंग, सती और चोर के अटूट प्रेम और लगन के उदाहरण देते हुए वे कहते हैं: —

सब रस का रस-प्रेम है, (रे) बिषयी खेलै सार।
तन-मन-धन-जोबन खसै, (रे) तऊ न मानै हार।

परन्तु फिर भी, रत्न मानव-योनि पा कर, दिन-रात प्रेम-कथा सुनते हुए और यह जानते हुए भी कि भगवान सदा सहायक हैं, हम उन्हें भुलाए रहते हैं। भगवान ने किस प्रकार हमें जन्म दिया, गर्भ-वास के त्रास से छुड़ा कर दिन-रात चोली-पान की तरह पाला-पोसा, मां का दूध पिलवाया, सगे-संबंधी दिए, प्रेम-सौहार्द दिया, धन-धाम, स्त्री-पुत्र आदि से सम्पन्न किया! परन्तु हम अपना सारा यौवन खान-पान-परिधान में बिता देते हैं और फिर उसी प्रकार भयभीत होते हैं, जैसे पर-स्त्री गामी लंपट सबेरा होने पर भयभीत हो जाता है। ज्यों-ज्यों शरीर पुष्ट होता ज़ाता है, त्यों-त्यों काम-लिप्सा बढ़ती जाती है। फिर धीरे-धीरे शरीर शिथिल होने लगता है और संसार में अपयश फैल जाता है। अन्त में यम के दूतों की मार सहनी पड़ती है; कोई बचाने नहीं आता, क्योंकि निरन्तर साथ रहने वाले सखा को तो हम पहचानते ही नहीं। मनुष्य ऐसी यातनाएं न जाने कब से सहता आया है! क्या जाने कितनी बार इसी प्रकार बुरी मौत मरना पड़ा है: —

कहा जानैं कैवां मुवो, (रे) ऐसैं कुमति, कुमीच।
हरि सौं हेत बिसारि कैं, (रे) सुख चाहत है नीच।
जो पै जिय लज्जा नहीं, (रे) कहा कहौं सौ बार।
एकहु आँक न हरि भजे, (रे) रे सठ सूर गवार।

पच्चीस दोहों के इस पद को जिसे 'सूरपचीसी' भी कहा गया है, सूरदास ने राग बिलावल में गा कर सुनाया। अकबर इसके संगीत की मधुरता और नैतिक-धार्मिक शिक्षा की उपयोगिता से अवश्य प्रसन्न हुए होंगे। 'वार्ता' में लिखा है कि इस संपूर्ण पद को सुन कर देशाधिपति बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि परमेश्वर ने मुझे राज्य दिया है, इस कारण सब गुणीजन मेरा यश गाते हैं, आप भी मेरे यश का कुछ वर्णन कीजिए। इस पर सूरदास ने यह पद सुनाया: —

मन मैं रह्यो नाहिं न ठौर।
नंद-नंदन अछत कैसे आनियै उर और।
चलत चितवत दिवस जागत, स्वप्न सोवत राति।
हृदय तैं वह मदन मूरति, छिन न इत उत जाति।

कहत कथा अनेक ऊधौ, लोग, लोभ दिखाई।
कह करौं मन प्रेम पूरन, घट न सिंधु समाई।
स्याम गात सरोज आनन, ललित मृदु मुख हास।
सूर इन कें दरस कारन, मरत लोचन प्यास।

पहला पद विनय और वैराग्य सम्बन्धी था और यह उद्धव-गोपी संवाद के प्रसंग का। जिस प्रकार गोपियां उद्धव की निर्गण-उपासना और उससे प्राप्त होने वाले लाभ के लालच में नहीं आतीं और उसका तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार सूरदास ने देशाधिपति को संकेत से बता दिया कि वे श्रीकृष्ण के अलावा किसी और के यश का वर्णन कर ही नहीं सकते, क्योंकि उनके मन में श्रीकृष्ण के ललित, मधुर रूप और उनकी लीला के अलावा और कुछ है ही नहीं। घड़े में सागर नहीं समा सकता, और, फिर जब घड़ा भरा हुआ हो तो सागर क्या उसमें एक बूंद भी नहीं आ सकती। इसी तरह कृष्ण-प्रेम से भरे हृदय में देशाधिपति के यश-वर्णन का भाव? कैसी विडंबना हैं! विरहिनी गोपियों की तरह सूर के नयन भी श्याम शरीर और मृदु मुस्कान वाले कमल-वदन प्रियतम कृष्ण के दर्शनों की प्यास में तड़प रहे हैं। सूर का संकेत था कि जिस तरह कृष्ण-दर्शन के लिए आतुर गोपियां निर्गुण की बात भी नहीं सुनना चाहतीं, उसी प्रकार वे भी देशाधिपति को देख कर भी नहीं देखना चाहते। अकबर पर इस पद का गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी समझ में आ गया कि ये तो परमेश्वर के जन हैं, इन्हें मुझसे किसी बात का लालच नहीं है, इसलिए ये मेरा यश क्यों गाएँ? परन्तु अंधे सूर के मुख से 'सूर इनके दरस कारन मरत लोचन प्यास' सुन कर अकबर के मन में प्रश्न उठा और उन्होंने कहा — तुम्हारे लोचन तो दिखाई नहीं देते, फिर प्यासे कैसे मरते हैं? और बिना देखे तुम उपमा कैसे देते हो? सूर ने उत्तर में कुछ नहीं कहा। परन्तु उनके मौन में ही अकबर को उत्तर मिल गया और उन्होंने स्वयं कहा — इनके लोचन तो परमेश्वर के पास हैं; वहां जो कुछ देखते हैं, उसी का वर्णन करते हैं। अकबर के मन में आया कि सूर का समाधान करने के लिए, अर्थात्; वहां आ कर दर्शन देने और काव्य-गायन का कष्ट उठाने के बदले में कुछ भेंट-पूजा करनी चाहिए। परन्तु बाद में उन्होंने स्वयं सोचा कि ये तो भगवद्भक्त हैं, इन्हें किसी बात की इच्छा नहीं।

इस भेंट को अपने ढंग से अधिक रोचक बनाने और सूर के माहात्म्य को बढ़ाने के उद्देश्य से गुसाईं हरिराय ने इस विवरण में कुछ और बातें भी जोड़ी हैं। उन्होंने लिखा है कि तानसेन द्वारा सूर के पद सुन कर अकबर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सूर के पदों की 'तलाश' कराई। लोग ढेरों ऐसे पद ढूंढ़-ढूंढ़ कर लाने लगे जिनमें सूर की 'छाप' लगी थी, अर्थात्, पद के अन्त में उनका नाम आया था। अकबर के दरबार में यह समस्या हो गई कि किस पद को सूर का प्रामाणिक पद समझा जाय और किसे सूर के नाम से रचा गया किसी और का। इसका समाधान करने के लिए पदों को पानी में डाल कर उनकी परीक्षा की गई। जो पद भीग गए वे प्रामाणिक नहीं माने गए, जो सूखे रहे उन्हें सूर द्वारा रचित माना गया। इसी क्रम में यहाँ तक कह दिया गया है कि अकबर सूरदास के पद फ़ारसी में लिखा कर बाँचते थे। इन बातों से सूर की ख्याति का प्रमाण अवश्य मिलता है। यह सिद्ध होता है कि सूर के सौ-सवा सौ वर्ष बाद, गुसाईं हरिराय के समय में ही सूर के पदों का अनुकरण होने लगा था, उनमें प्रक्षेप होने लगे थे, प्रतिलिपियां बनाई जाने लगी थीं और फ़ारसी लिपि ही जानने वाले लोगों के द्वारा फ़ारसी लिपि में भी प्रतिलिपियां कराई जाने लगी थीं। स्वाभावतः

सूर के पदों की प्रामाणिकता की समस्या जो आज तक बनी हुई है, उसी समय से आरंभ हो गई थी। गुसाईं हरिराय ने यह भी लिखा है कि सूरदास से अकबर ने कहा कि धन-द्रव्य जो कुछ चाहें, मांग लें। सूर ने तिरस्कार के साथ उत्तर दिया — आज के बाद मुझे कभी बुलाना नहीं, मुझ से कभी मिलने की इच्छा न करना। ठीक यही बात कुंभनदास के बारे में लिखी गई है।

वास्तव में वार्ताकार और उनके भाष्यकार और टीकाकार ने भक्त के यश का वर्णन करते हुए ऐसी बातें भी जोड़ दी हैं जो कल्पना-प्रसूत होते हुए भी भक्तों के सच्चे चरित्र का निरूपण करती हैं; उन में यथार्थमूलक तथ्य भले न हों, भावात्मक सत्य अवश्य है।

अकबर से भेंट करके सूरदास को भी कुंभनदास की तरह कोई प्रसन्नता नहीं हुई। वे श्रीनाथ जी के दर्शन के लिए विकल हो गए और गोवर्धन लौट आए।

(2)

सूरदास के विषय में उनके माहात्म्य और उनकी लोकप्रियता को प्रमाणित करने वाली अनेकानेक जनश्रुतियां, संभवतः, सूर के जीवन काल से ही प्रचलित होने लगी थीं। पुष्टिमार्गीय भक्त-वार्ताएं भी एक प्रकार की जनश्रुतियां ही हैं। इसी प्रकार नाभादास (1566 ई०) के 'भक्तमाल' और उसकी टीकाओं — महाराज रघुराजसिंह (1823-1874 ई०) की 'रामरसिकावली' और कवि मियासिंह की 'भक्त-विनोद' में सूर की प्रशंसा की गई है और प्रायः ऐसी बातें कहीं गई हैं जिनसे केवल इतना निष्कर्ष निकलता है कि सूर का जीवन-चरित्र उनके जीवनकाल से ही रहस्य बनने लगा था और उसके विषय में कवि-कल्पनाओं की ऊंची उड़ाने भरी जाने लगी थीं। नाभादास ने तो केवल भक्ति और काव्य की प्रशंसा करते हुए निम्नलिखित छप्पय लिखा हैः-

उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति-निर्वाह अर्थ अद्‌भुत तुकधारी।
प्रतिबिंबित दिव दृष्टि ह्रदय हरि लीला भासी।
जन्म कर्म गुन रूप सबै रसना सु प्रकासी।
बिमल बुद्धि गुनि और की, जो वह गुन स्रवननि धरै।
श्री सूर कबित सुन कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै।।

नाभादास ने इस छप्पय में सूर के असाधारण कवि-कौशल की प्रशंसा करते हुए शब्द और अर्थ पर उनके अधिकार तथा उक्ति-वैचित्रय, अलंकार-विधान, छंद-विधान, भाव-व्यंजना, प्रेम-प्रवणता, भक्ति-भावना बुद्धिमत्ता आदि अनेक गुणों का संकेत किया है और कहा है कि उनका काव्य कवि मात्र को गंभीरता पूर्वक प्रभावित करता है। नाभादास ने उन्हें दिव्य-दृष्टि से संपन्न कह कर उनके अन्धत्व की ओर भी इशारा किया है।

उन्नसवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में रघुराजसिंह के समय तक सूरदास के विषय में अनेक किंवदंतियां प्रचलित हो गई थीं। रघुराजसिंह ने प्रशंसात्मक भावना से उन्हें लिपिबद्ध किया है। गुसाईं हरिराय ने वार्ता में सूरदास द्वारा रचित 'सहस्रावधि' पदों के उल्लेख को 'लक्षावधि' करके लिखा कि एक लाख पद रचने के बाद सूरदास को चिंता हुई कि उनका सवालाख पदों की रचना

करने का संकल्प कैसे पूरा होगा क्योंकि अब उनका अन्त समय निकट आता जान पड़ता है। परन्तु जब उन्होंने अपने एक लाख पदों का बस्ता बांध कर रख दिया और उसे सवेरे खुलवाया तो देखा गया कि उसमें 'सूरश्याम' की छाप के पच्चीस हजार नए पद और मिल गए हैं। ये नए पद श्रीनाथ जी ने भक्त की प्रतिज्ञा को पूरा करने के उद्देश्य से स्वयं रच कर मिला दिए थे। 'रामरसिकावली' में इस किंवदंती का भी उल्लेख किया गया है।

यह प्रसिद्ध ही रहा है कि सूरदास की कृष्ण-भक्ति सखा-भाव की थी। 'रामरसिकावली' में रघुराजसिंह ने इसी भाव को निश्चित रूप देने के उद्देश्य से लिख दिया कि वे कृष्ण-सखा उद्धव के अवतार थे। परन्तु रघुराजसिंह ने यह कल्पना करते समय यह नहीं सोचा कि सूरदास ने उद्धव को अत्यंत सरल, मोटी बुद्धि का, नीरस, भक्ति-भाव से अपरिचित कृष्ण-सखा के रूप में चित्रित किया है। वे सूर की गोपियों के व्यंग्य वचनों के पात्र हैं तथा भक्ति-बाह्य सभी सम-सामयिक विचारों और सिद्धान्तों के प्रतिनिधि हैं।

एक बड़ी रोचक बात रघुराजसिंह ने यह लिखी है कि सूरदास की पत्नी ने एक बार शिकायत की कि लोग उसके श्रृगांर करने पर हँसी करते हैं और पूछते हैं कि तू किसे दिखाने के लिए श्रृंगार करती है, तेरा पति तो अन्धा है। उत्तर में सूर ने पत्नी को श्रृंगार करने के लिए कहा। पत्नी ने पति की परीक्षा लेने के उद्देश्य से सब श्रृंगार तो किया, माथे पर बिंदी नहीं लगाई। सूर ने तुरन्त पूछा कि माथे पर बिंदी क्यों नहीं लगाई है। रघुराजसिंह की यह कहानी कदाचित सूर को दिव्य दृष्टि-सपंन्न सिद्ध करने के उद्देश्य से गढ़ी गई है।

इसी प्रकार रघुराजसिंह ने शाह द्वारा बुलाए जाने पर सूर को दिल्ली जाने और शाह की लड़की की जाँघ का तिल बता कर करामात दिखाने का भी उल्लेख किया है।

रघुराजसिंह स्वयं कवि और काव्य-रसिक थे। उन्होंने हिंदी काव्य का गहन अध्ययन किया था। सूरदास के विषय में लिखते हुए उन्होंने एक कवित्त में उनकी इस प्रकार प्रशंसा की हैः-

मतिराम, भूषण, बिहारी, नीलकंठ, गंग,
बेनी, शंभु, तोष, चिंतामणि, कालिदास की।
ठाकुर, नेवाज, सेनापति, शुकदेव, देव,
पजनेस, घनानंद, घनश्यामदास की।
सुंदर, मुरारी, बोधा, श्रीपतिहूं, दयानिधि,
युगल, कविंद त्यों गोविंद, केसौदास की।
भनै रघुराज और कविन अनूठी उक्ति,
मोहिं लगी झूठी जानि जूँठी सूरदास की।

कवि मियासिंह के 'भक्त-विनोद' में इसी प्रकार की सुनी-सुनाई प्रशंसात्मक बातों के अलावा यह भी बताया गया है कि सूरदास पहले जन्म में यादव और कृष्ण के मित्र थे। उनका जन्म मथुरा प्रान्त में एक ब्राह्मण के घर में हुआ था। जन्मांध होने के कारण माता के अतिरिक्त उन्हें कोई प्यार नहीं करता था। आठ वर्ष की उम्र में उनका यज्ञपवीत हुआ। एक बार माता-पिता के साथ ब्रज-यात्रा पर जाने के बाद वे मथुरा में ही रह गए। मियासिंह ने सूरदास के कुंवे में गिरने, कृष्ण द्वारा उसमें से

निकाले जाने और कृष्ण से वरदान पाने की कहानी भी लिखी है। उन्होंने अकबर द्वारा आमंत्रित हो कर दरबार में जाने, शाह द्वारा सम्मान पाने और शाह की भामिनियों में से यादव कुल की एक भामिनि को पहचान लेने और उसका तुरन्त उद्धार कर सुरपुर पहुँचाने की दतंकथा भी है।

सूरदास के विषय में ये सब कपोल-कल्पित कथाएं उनकी लोकप्रियता की ही प्रमाण हैं। यह लोकप्रियता भक्ति-धर्म और काव्य दोनों क्षेत्रों में समान रूप से पाई जाती है। भक्ति-क्षेत्र में भावुक श्रद्धालुओं ने अपने अपने भाव से सूर का माहात्मय प्रतिपादित करने के लिए कथाओं की रचना की है तथा अन्य सूरदास नामक भक्तों की कथाओं को भी हमारे सूरदास की जीवनी में शामिल कर लिया है। हमारे यहां प्रत्येक अंधे व्यक्ति को जो संभवतः प्रकृति से भक्त और संगीत-प्रेमी होता है सूरदास कहने की प्रथा चल पड़ी हैं। अतः सभी सूरदास जन-समान की श्रद्धा के भाजन होते हैं।

काव्य के क्षेत्र में सूरदास की प्रसिद्धि बहुत व्यापक रही है। न जाने किस कवि के रचे हुए 16 दोहों की एक प्रशस्ति प्राप्त हुई है, जिसमें 116 कवियों का नाम गिनाते हुए कहा गया है कि सूरदास इन सबसे महान थे। नीचे पहला और अंतिम दो दोहे दिए जा रहे हैं:-

सूरदास के समय में, जो कवि के भये महान।
उन सब से बढ़ि कै सबै, इन्हें करत सम्मान।

× × ×

विद्यापति आदिक कवि, जितने भये सुजान।
काव्य भाव में सूर सम, तुलसी एक प्रमान।

सूर की प्रशंसा में लोक-प्रचलित यह दोहा तो सभी जानते हैं:-

सूर सूर तुलसी ससी, उडगण केसवदास।
अबके कवि खद्योत सम, जहँतहँ करत प्रकास।

उसी प्रकार यह दोहा भी प्रसिद्ध है:-

कविता कर्ता तीन हैं, तुलसी केशव सूर।
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर।

तानसेन के द्वारा रचित कहा जाने वाला दोहा भी काफी लोक-प्रचलित रहा है:-

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन मन धुनत सरीर।

संस्कृत के किसी अज्ञात कवि का एक श्लोक है:-

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
दंडिनः पदलालित्यं माधे संति त्रयौ गुणाः।

इसी के अनुकरण पर हिंदी के भी किसी कवि ने सूर की प्रशंसा में एक दोहा लिखा है:-

सुंदर पद कवि गंग के, उपमा को बरबीर।
केशव अर्थ गंभीर को, सूर तीन गुण तीर।।

अभिप्रेत था यह कहना कि सूर के काव्य में पदलालित्य, अर्थ-गंभीरता, और उपमानों का प्रयोग — ये तीनों गुण पाए जाते हैं। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति करने में गंग और बीरबल को भी प्रशंसा मिल गई।

सूरदास की ख्याति और मान्यता उनके समय से आज तक बढ़ती ही चली आई है। जन-श्रुतियों, किंवदंतियों, पुराण-वार्ताओं आदि की रचना से लोकप्रियता और लोकमान्यता का ही प्रमाण मिलता है।

8. मतभेद की कुछ बातें

आधुनिक अर्थ में इतिहास की प्रामाणिक साक्षी के अभाव में सूर की जीवनी का पुनर्निमाण बहुत कुछ जनश्रुतियों के आधार पर ही हुआ है। पुष्टिमार्गीय भक्तों की 'वार्ता' का विपुल साहित्य भी विशेष प्रकार की जनश्रुतियों का संकलन ही है, यद्यपि उसमें अपेक्षाकृत प्रामाणिकता और विश्वनीयता अधिक है। इसीलिए मुख्य रूप से उसीका आश्रय लिया गया है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यदि मतभेद की बात कहें तो सबसे पहले सूरदास के जीवन के मुख्य आधार के सामने ही प्रश्न-चिन्ह लग जाएगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐतिहासिकता की यह संदेहशील दृष्टि मध्ययुग के भक्त कवि-गायकों के संबंध में नहीं अपनायी जा सकती। इन निरीह, निरभिमान, सम्पूर्ण भाव से ईश्वर को समर्पित, आपा को एकदम बिसारने वाले भगवदियों के जीवन-चरित्रों के मान-दंड सांसारिक व्यक्तियों के जीवन-चरित्रों के मान-दंडों से भिन्न मानने पड़ेंगे। सांसारिक जन के लिए जो तथ्य और यथार्थ हैं, वे इन भगवद्भक्तों की दृष्टि में मिथ्या और हेय हैं। यही कारण है कि जन-मानस की कल्पना ने इनके चरित्रों के सत्य को उद्घाटित करने के लिए विविध प्रकार से, कभी-कभी परस्पर विरोधी तथ्यों की रचना कर डाली है। हमने सूरदास की जीवनी के तथाकथित तथ्यों में निहित और अभिप्रेत भाव-सत्य को समझने का बराबर यत्न किया है। परन्तु फिर भी, कुछ बातें बच रहती हैं जिन पर विद्वानों ने गंभीरतापूर्वक वाद-विवाद चलाया है और वह आज तक समाप्त नहीं हुआ है।

(1)

सबसे पहली मतभेद की बात सूरदास के वंश — माता-पिता और कुटुंब — के सम्बंध में है। गुसाईं हरिराय द्वारा सूर के आरंभिक जीवन का विवरण दिया जा चुका है, परन्तु कुछ विद्वानों ने 'साहित्यलहरी' नामक रचना के एक पद के आधार पर सूरदास का सम्बंध चंद बरदायी के वंश से जोड़ा है और कहा है कि उनके छः भाई लड़ाई में मारे गए थे। परन्तु यह मत मान्य नहीं हो सका, क्योंकि सम्पूर्ण 'साहित्यलहरी' नहीं, तो कम से कम यह पद तो अधिकतर विद्वानों ने अप्रामाणिक मान ही लिया है।

उक्त पद से यह भी सूचित होता है कि सूरदास जगा, भाट या ब्रह्म-भट्ट थे। इस बात की पुष्टि के लिए 'सूरसागर' के निम्नलिखित उद्धरण भी प्रस्तुत किए जाते हैं —

1 — (नंद जू) मेरे मन आनंद भयौ मैं गोवर्धन तैं आयौ।

\+ \+ \+ \+ \+

हौं तौ तेरे घर कौ ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाऊं।।

2 — मैं तेरे घर कौ हौं ढाढ़ी मो सरि कोउ न आन।

\+ \+ \+ \+

हौं तेरौ जनम-जनम कौ ढाढ़ी, सूरजदास कहाउं।।

3 — (नंद जू) दुःख गयौ सुख आयौ सबनि कौं देव पितर भल मान्यौ
हौं तौ तुम्हरे घर कौ ढाढ़ी, नाउं सुनै सचु पाऊं।
गिरि गोवर्धन वास हमारौ, घर तजि अनत न जाऊं।

4 — ढाढ़ी दान मान के भाई।

\+ + + +

भक्ति देहु, पालनैं झुलाऊं, सूरदास बलि जाई।।
5 — नंद उदै सुनि आयौ हो, बृषभानु कौ जगा।।

पहले पद के विषय में, जैसा कि पीछे कह चुके हैं, यह प्रसिद्ध है कि इसे सूरदास ने विट्ठलनाथ की जन्म-बधाई के रूप में रचा था। अन्य पदों के विषय में भी यही व्याख्या की जाती है कि पुष्टिमार्ग में ढाढ़ी के पद रचने की एक निश्चित परम्परा थी, अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी ढाढ़ी के पद रचे हैं, जिनमें कवि अपने को विरुदावली गाने वाले ढाढ़ी या भाट के रूप में कल्पित कर लेता है। गुरुओं के पुत्रों के जन्मोत्सवों पर भी ये पद कृष्ण-जन्म के उत्सव की बधाई के रूप में गाए जाते रहे हैं। अतः अधिकतर विद्वानों का मत है कि सूरदास को इनके आधार पर ढाढ़ी या ब्रह्मभट्ट नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में सूर-साहित्य के एक मान्य विद्वान डा० मुंशीराम शर्मा ने 'साहित्यलहरी' के उपर्युक्त पद को प्रामाणिक और इसके आधार पर सूरदास को चंद बरदायी का वंशज मानते हुए कहा है कि विरुदावली गाने वाले ब्रह्मभट्ट कविता के व्यवसायी होने के कारण वस्तुतः सारस्वत अर्थात् सरस्वती-पुत्र ही होते हैं, अतः सूरदास को एक साथ ब्रह्मभट्ट और सारस्वत ब्राह्मण कहा जा सकता है। परन्तु सूर को सारस्वत ब्राह्मण मानने वाला पक्ष इस समझौते वाले प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता। उस पक्ष की सबसे प्रबल साक्षी हरिराय का कथन है। हरिराय का कथन कहाँ तक पूर्ण विश्वास योग्य है, यह कहना कठिन है। बताया गया है कि सूरदास ने अपने 'सूरसागर' में कहीं भी ब्राह्मणों की प्रशंसा नहीं की, बल्कि उलटे ब्राह्मणों के लिए तिरस्कार का भाव व्यंजित किया है, जैसे: —

(1) श्रीधर बाँभन करम कसाई। आदि
(2) महाराने तैं पांडे आयौ।
(3) अजामील तौ बिप्र तिहारौ, हुतो पुरातन दास।
तौ जानैं मोहिं तारिहौ, सूर कूर कवि ठोट।।
(4) बिप्र सुदामा कियौ आजाची, प्रीति पुरातन जानि।
सूरदास सौं कहा निहारौ नैनन हूं की हानि।।

'बांभन' और 'पांडे आयौ' जैसे प्रयोग तिरस्कारव्यंजक है तथा अजामिल और सुदामा के विप्रत्व की तुलना में सूरदास की सापेक्ष हीनता और उसके आधार पर उद्धार पाने की सापेक्ष योग्यता की व्यंजना जान पड़ती है। यह भी कहा गया है कि 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के उस रूप में जिसमें गुसाईं हरिराय द्वारा जोड़े गए अंश नहीं है, सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण नहीं कहा गया है। परन्तु वर्तमान विद्वानों का बहुमत यही मानता है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे। फिर भी, यह भूलना नहीं चाहिए कि सूरदास को जात-पांत से कोई मोह नहीं था। यदि वे ब्राह्मण भी रहे हों, तो भी उन्हें इस बात की कोई चेतना नहीं थी। उन्होंने तो कृष्ण की एक लीला (पनघट लीला) के प्रसंग में स्वयं कहा है:

मेरे जिय ऐसी आनि बनी
बिनु गोपाल और नहिं जानौं, सुनि मोसौं सजनी।
कहा काँच के संग्रह कीन्हैं, डारि अमोल मनी।
विष-सुमेरू कछु काज न आवै, अमृत एक कनी।
मन बच-क्रम मोहि और न भावै, मेरे स्याम धनी।
सूरदास-स्वामी के कारन, तजी जाति अपनी।

यद्यपि यह कथन कृष्ण-प्रेम में आसक्त और विवश एक गोपी का है, फिर भी इसमें सूर के आत्म-कथन की ध्वनि निकलती है।

(2)

मतभेद का दूसरा विषय सूर की जन्मांधता से संबंधित है। यह निर्विवाद है कि सूर अंधे थे, आज भी अंधे को प्रायः सूरदास के सम्मानित नाम से पुकारा जाता है। स्वयं सूर के अनेक पदों से उनके अंधे होने की साक्षी मिलती है, जैसे: —

1 — सूर कूर आँधरौ मैं द्वार पर्‌यौ गाऊं।
2 — बिप्र सुदामा कियौ अजाची प्रीति पुरातन जानि।
सूरदास सौं कहा निहारौ नयनन हूं की हानि।।
3 — कर जोरि सूर बिनती करै सुनौ न हो रुकिमिनि रवन।
काटौ न फंद मो अंध के, अब विलंब कारन कवन।।
4 — यहै जिय जानि कै अंध भव त्रास तैं,
सूर कामी-कुटिल सरन आयौ।।
5 — मौसौ पतित न और हरे।
जानत है प्रभु अंतरजामी जे मैं कर्म करे।
ऐसौ अंध अधम अविवेकी, खोटनि करत खरे।।
6 — सूरदास की एक आँखि है, ताहू मैं कछु कानौ।

पहले तीन उद्धरणों में सूर के व्यक्तिगत आत्म-कथन का स्पष्ट संकेत है। चौथे और पांचवें उद्धरण में 'अन्ध' का लाक्षणिक अर्थ भी लिया जा सकता है, यानी वह व्यक्ति जिस का बुद्धि-विवेक नष्ट हो गया हो। अन्तिम उद्धरण का शाब्दिक अर्थ लगाना हास्यास्पद होगा। इसका अलंकारिक रूप में यह अर्थ है कि सूरदास की दो प्रकार की आंखों में एक, अर्थात् शरीर की आंख नहीं थी, केवल थोड़ा सा विवेक था, परन्तु अपनी विनय-शीलता में वे कहते हैं कि उस विवेक की आंख में भी पूर्ण सत्य देखने की क्षमता नहीं है।

सूरदास ने कहीं भी अपने को जन्मांध नहीं कहा — अपने विषय में वे केवल अपने दोषों को देखने अथवा अपनी दीनता-हीनता और विनयशीलता प्रकट करने के लिए ही कुछ कह सकते थे, आत्म-विज्ञापन करने की प्रवृत्ति ऐसे महात्मा में कहां हो सकती है जो अहम् को पूरे तौर पर मिटा कर

भगवान में समर्पित होना ही जीवन का चरम लक्ष्य मानता था! परन्तु उपर्युक्त उद्धरणों में जहां उन्होंने अपने को अंधा कहा है, वहां जन्मांधता का संकेत नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। गुसाईं हरिराय ने तो साफ लिखा है कि सूर जन्म से अंधे थे, यहां तक कि उनकी आंखों का आकार तक नहीं था। इससे यह प्रकट है कि सूर के जन्मांध होने की प्रसिद्धि कम से कम हरिराय के समय तक, अर्थात्, सूर के सौ-सवा सौ वर्ष बाद अवश्य प्रचलित हो गई थी। हरिराय द्वारा किए गए परिवर्धनों से रहित 'वार्ता' में सूर की अंधता का उल्लेख केवल अकबर से उनकी भेंट के वृत्तान्त में किया गया है। वहां भी जन्मांधता का संकेत नहीं है। जन्मांधता की बात मानने में बहुत बड़ी कठिनाई यह आती है कि उन्होंने रूप, रंग, आकार, चाल-ढाल, व्यवहार, वस्तु, पदार्थ आदि के ऐसे यथार्थ और सूक्ष्म चित्रण किए हैं जो साधारणतया साक्षात देखे बिना नहीं किए जा सकते। परन्तु सूर जैसे सिद्ध भक्त जनों के विषय में हमारे देश का जन-मानस ही नहीं, विद्वत्समाज भी यह मानने का आग्रह करता है कि सूरदास आंखों से अन्धे होते हुए भी यथातथ्य वर्णन कर सकते थे। अन्धता के विषय में किसी रूपवती युवती से स्वयं आँखें फुड़वा लेने की बात हमारे सूरदास की नहीं है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। इसी प्रकार यह भी सच नहीं है कि सूरदास वृद्धावस्था में शिथिलेन्द्रिय हो कर अन्धे हो गए थे। वास्तव में अन्धता और जन्मांधता के विषय में इतना विवाद अनावश्यक है। अन्धे होते हुए भी उन्होंने इतने सुंदर और महान काव्य की रचना की यह कम असाधारण बात नहीं है यदि वे जन्मांध थे तब तो असाधारणता अलौकिकता की कोटि पर पहुंच कर सूरदास के महत्त्व को और बढ़ा देती है। सूर को लोक-मत ने जो आदर दिया है, उसके संदर्भ में इतना महत्त्व देने की भावना संगत जान पड़ती है।

सूरदास ने स्वयं मंगलाचरण के पद में कहा है कि हरि की कृपा से अन्धे को भी सब कुछ दिखाई दे जाता है। इस कथन में विनम्र आत्मोक्ति मानना सर्वथा संगत है।

(3)

मतभेद की तीसरी बात सूर के जन्म-स्थान के विषय में है। सीही, रुनकता या रेणुका क्षेत्र, गोपाचल और साही — इतने स्थान सूर की जन्मभूमि के विषय में उठे मतभेद के संदर्भ में आए हैं। गुसाईं हरिराय ने दिल्ली से चार कोस दूर सीही ग्राम को सूर की जन्म-भूमि बताया है और विद्वानों का सबसे अधिक झुकाव इस मत की ओर दिखाई देता रहा है। परंतु यह मत रुनकता वाले मत के बाद प्रकाश में आया। दिल्ली से 13 कि०मी० दूर या उसके आस-पास सीही को ढूढ़ने के प्रयत्न किए गए तो दिल्ली से 32-33 कि०मी० दूर बल्लभगढ़ के निकट सीही गांव का पता चला। वहां, कहते हैं, सूर संबंधी कुछ जनश्रुति भी सुनने को मिली। परंतु जनश्रुति कितनी पुरानी है, यह नहीं कहा जा सकता। स्थान-विशेष के निवासी अपने स्थान का महत्त्व बढ़ाने के उद्देश्य से जनश्रुतियाँ गढ़ भी लेते हैं। यह अनुमान किया गया कि यदि सीही गाँव दिल्ली से चार कोस की दूरी पर था, तो वह संभवतः वर्तमान नई दिल्ली के निर्माण के समय उजड़ गया होगा। परन्तु इस अनुमान का कोई आधार नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा कुछ होता तो सीही के उजड़ने और उसके पुनः बल्लभगढ़ के पास बसने की कुछ बात सुनी जाती।

रुनकता या रेणुका क्षेत्र किस आधार पर सूरदास की जन्मभूमि के रूप में प्रसिद्ध हो गया, यह

कहना कठिन है। संभव है, गऊघाट के निकट होने के कारण यह अनुमान कभी किसी ने कर लिया हो। वर्तमान रुनकता गांव, जैसा कि आरंभ में कह चुके हैं, आगरा-मथुरा सड़क पर स्थित है। रुनकता से 3 कि०मी० की दूरी पर यमुना के किनारे 'रेणुका' नामक स्थान है और वहां पर परशुराम जी का मन्दिर है। गऊघाट रेणुका के पास ही अनुमानतः केवल एक कि०मी० की दूरी पर है। यह भी अनुमान किया गया है कि रुनकता गांव पहले गऊघाट पर ही था और वहाँ से, शायद औरंगज़ेब के अत्याचार के फलस्वरूप उजड़ कर दूसरे स्थान पर बस गया। परंतु सूरदास का जन्म-स्थान होने की कोई जनश्रुति रुनकता में नहीं है।

गोपाचल के नाम को सूरदास की तथाकथित रचना 'साहित्यलहरी' के उस पद के आधार पर मान्यता मिली जिसे अधिकतर विद्वानों ने अप्रामाणिक माना है, फिर भी यह हो सकता है कि उस पद में, भले ही वह सूरदास द्वारा न रचा गया है और यह सच है कि सूरदास उसके रचयिता नहीं हैं, सूरदास की जन्म-भूमि गोपाचल है, यह बात किसी जनश्रुति के आधार पर पद के रचियता ने लिखी हो। गोपाचल वर्तमान ग्वालियर का पुराना नाम कहा जाता है। परंतु ग्वालियर सूर की जन्म-भूमि हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। कोई, किसी प्रकार की परंपरा इस विषय में नहीं मिलती। कुछ विद्वानों ने गोपाचल और गऊघाट को एक ही मानने का सुझाव दिया है। यह संभव है, जैसा कि आगरा के एक साहित्यकार श्री तोताराम पंकज ने लिखा है, 'गोपांचल' का 'गोपाचल' हो गया हो और गऊघाट को ही 'साहित्यलहरी' का उक्त पद रचने वाले ने गोपांचल कहा हो।

किन्तु श्री पंकज ने एक और खोज की है। उनका कहना है कि सूरदास का जन्म-स्थान सीही नहीं साही है जो आगरा-भरतपुर रोड पर रेणुका या रुनकता से 6 कि०मी० दूरी पर स्थित है। इस विषय में उन्होंने सूर की जीवनी के संभवतः सबसे पहले लेखक बाबू राधाकृष्णदास का हवाला दिया है, जिन्होंने सूर का जन्म स्थान सीही या साही लिखा है। पंकज जी ने यह भी अनुमान लगाया है कि संभव है हरिराय ने भी, मूलतः जनश्रुति के आधार पर, सूरदास का जन्म-स्थान साही ही लिखा हो जो बाद में प्रतिलिपिकार के प्रमाद से सीही हो गया हो। परंतु यह 'साही' दिल्ली से चार कोस की दूरी पर तो नहीं है। बल्लभगढ़ का निकटस्थ साही तो दिल्ली से 33 कि०मी० की दूरी पर ही है, यह साही गांव दिल्ली से 150 कि०मी० से भी अधिक दूर होगा। परंतु हरिराय की बात ऐसी प्रमाणिक नहीं है कि उसे स्वीकार ही किया जाय। उन्होंने सूर के सौ-सवा सौ वर्ष बाद भक्त कवि की प्रशंसात्मक जीवनी लिखने का यत्न किया था। श्री पंकज का कथन है कि साही गऊघाट के निकट होने के ही कारण नहीं, बल्कि इस कारण भी सूर के जन्म-स्थान के रूप में मान्य होना चाहिए कि वहां एक 'बांसकी' का कुवाँ है, जिसमें, जनश्रुति के आधार पर सूरदास गिर गए थे। यहां हमें पुनः यह स्मरण दिलाना आवश्यक जान पड़ता है कि जनश्रुतियां स्थान का महत्त्व बढ़ाने के लिए गढ़ी भी जाती हैं। सूरदास के कुवें में गिरने की बात हमारे सूरदास के विषय में विद्वानों ने अमान्य की है। परंतु कौन जाने भाव-सत्य को उद्‌घाटित करने के लिए यह जनश्रुति विल्व मंगल सूरदास और हमारे सूरदास — दोनों के विषय में लोक-मानस द्वारा ही रच ली गई हो। श्री पंकज का कहना है कि साही सात सौ-आठ सौ वर्ष पुराना गांव है, जब कि सीही अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।

सच तो यह है कि सूर जैसे निरीह व्यक्ति के जन्म-स्थान, जन्म-स्थान ही क्या, जीवनी के सभी सांसारिक तथ्यों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही मध्य युग के मनुष्य ने नहीं समझी थी। वे

तो अपनी स्वाभाविक प्रतिभा, भक्ति-भावना, संगीत-कला और अनुपम काव्य-वैभव ले कर मानो सहसा प्रकट हो गए थे। स्थान की दृष्टि से उनकी जीवन-यात्रा में संभवतः गऊघाट पहली मंजिल थी। स्वाभाविक यही लगता है कि, यदि गऊघाट वाली बात स्वीकारें तो, उनका जन्म-स्थान शायद उसी के आस-पास कहीं रहा होगा। हो सकता है वह स्थान रुनकता या रेणुका हो या साही हो। परंतु सूर की जीवनी तो भक्त की पुराण-वार्ता है, जिसके द्वारा व्यक्तित्व के गुण उजागर होते हैं, स्थान और घटनाएं तो केवल साधन मात्र हैं।

(4)

मतभेद की कुछ छोटी-मोटी बातें और भी हैं, परन्तु अब वे मिटती जा रही हैं, जैसे, सूर की जन्म-तिथि। वे लोग भले ही 1540 विक्रमी अब भी लिखते जा रहे हों जिनकी पहुँच सूर संबंधी अनुसंधान तक नहीं हो पाई है और जो 'साहित्यलहरी' और 'सूरसागरसारावली' के आधार पर निकाले उक्त संवत् के 25 वर्ष पहले के प्रचलन तक ही अपनी जानकारी की सीमा बांध कर बैठ गए हों, अधिकतर विद्वान अब यह मान कर संतोष करने लगे हैं कि सूर का जन्म सं० 1535 वि० (1478 ई०) में हुआ था, क्योंकि इस पुष्टिमार्गीय जनश्रुति पर विश्वास करने के अलावा अभी और कोई उपाय नहीं है कि सूरदास वल्लभचार्य से दस दिन छोटे थे। यह अवश्य है कि यदि वल्लभचार्य की जन्म-तिथि के विषय में कोई नई खोज हुई और यह सिद्ध किया गया कि उनका जन्म 1535 विक्रमी नहीं, किसी और संवत में हुआ था तो सूर के जन्म-संवत में भी संशोधन करना पड़ेगा। इसी प्रकार संप्रदाय-प्रवेश, अकबर से भेंट और गोलोकवास संबंधी तिथियों के विषय में भी थोड़े-बहुत मतभेद हैं। परन्तु उनका विशेष महत्व नहीं है। सूर के गोलोक-वास का संवत् अब 1620 विक्रमी नहीं माना जाता। यह बात दूसरी है कि जो लोग पुरानी पुस्तकों से नकल कर के जन्म संवत् 1540 वि० लिखते रहते हैं, वे ही जानकारी के अभाव में गोलोकवास का संवत् 1620 वि० दुहराए चले जा रहे हैं। गोलोक-वास और उसके समय पर हम आगे विचार कर रहे हैं, अतः यहां इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है।

सूरदास की रचना — उसके रूप, आकार, उसकी विधा, उसके वर्ण्य-विषय आदि के संबंध में भी मतभेद उठते रहे हैं। 'सूरसागर' का रूप और आकार क्या है, केवल इसी विषय में नहीं, बल्कि इस विषय में भी लंबा वाद-विवाद चलता रहा है और अब भी वह समाप्त नहीं हुआ है कि क्या सूरदास ने 'सूरसागर' के अलावा कुछ और ग्रन्थों की भी रचना की थी, क्या 'सूरसागर सारावली' उन्हीं के द्वारा रची गई स्वतंत्र रचना है और क्या 'साहित्यलहरी' भी उसकी प्रामाणिक कृति है?

मतभेद तो नहीं, पर कुछ भ्रम सूरदास के नाम के विषय में भी उठे हैं और ये भ्रम हरिराय के समय में भी उठ रहे थे जिनका समाधान करने के लिए उन्होंने लिखा कि सूरदास के चार नाम हैं — आचार्य जी ने उन्हें सूर (शूर) कहा था, क्योंकि वे भक्ति-भाव में शूरवीर थे, गुसाईं जी ने उनकी निरभिमानता और दीनता के कारण सूरदास नाम दिया था, स्वरूप के प्रकाश के कारण स्वयं 'स्वामिनी जी' ने उन्हें 'सूरजदास' नाम दिया था और श्री गोवर्धन नाथ (श्री नाथ जी) ने उनका सवा

लाख पदों की रचना का संकल्प पूरा करने के लिए जो पच्चीस हजार पद रच कर सूरसागर में मिला दिए उनमें 'सूरश्याम' छाप का प्रयोग किया था और इस प्रकार उनका नाम 'सूरश्याम' भी प्रसिद्ध हुआ। वास्तव में नामों की बहुलता की यह व्याख्या हरिराय ने सूरसागर में प्रयुक्त कवि-छापों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए ही की है। कह नहीं सकते कि इन या कुछ और, जैसे सूरदास-स्वामी, सूरदास-प्रभु, और सूरज छापों के सभी पद एक ही सूरदास नामक भक्त कवि के हैं या उनमें अन्यों की रचनाओं का मेल-जोल हो गया है। यहां यह अवश्य स्मरण करने योग्य है कि 'साहित्यलहरी' के वंशावली वाले पद में दिया गया नाम 'सूरजचंद' न तो 'सूरसागर' के एक भी पद में प्रयुक्त मिलता है और न हरिराय ने उसका उल्लेख किया है।

9. भक्ति की चरितार्थता और गोलोक-प्रवेश

सूरदास के भक्ति-भाव के विकास-क्रम और उसकी परिस्थितियों का हम अवलोकन कर चुके हैं। हमने संकेत किया है कि सूर ने निर्वेदमूलक शांति, दैन्यमूलक दास्य, प्रीतिमूलक वात्सल्य, प्रेममूलक सख्य और दाम्पत्यमूलक माधुर्य भाव को भक्ति-भाव की उत्तरोत्तर गहनता और व्यापकता के रूप में अपनाया था। उनकी भक्ति-भावना श्री राधा के भाव में पूर्ण विकास को प्राप्त हुई थी, इसका प्रमाण न केवल उनकी रचना से मिलता से मिलता है, बल्कि 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में दी गई सूरदास की वार्ता के अन्तिम प्रसंग से इसका बड़े नाटकीय ढंग से समर्थन प्राप्त होता है।

वार्ता में लिखा है कि सूरदास को श्रीनाथ जी की 'सेवा' करते हुए बहुत दिन हो गए। उन्हें आभास होने लगा कि जीवन के दिन अब पूरे हो गए हैं। एक दिन अचानक मंगल आरती के बाद अर्थात् श्री नाथ जी के प्रातः काल दर्शन के बाद उन्हें लगा कि आज भगवान की इच्छा मुझे अपने पास बुलाने की है। अतः वे तुरंत कृष्ण की नित्य रासलीला की भूमि 'परासौली' की ओर चल दिए। वहां पहुंच कर वे श्री नाथ जी की ध्वजा की ओर मुँह करके दंडवत लेट गए और महाप्रभु आचार्य जी, श्री नाथ जी और गुसाईं जी के दर्शन करने की इच्छा करते हुए उनका स्मरण करने लगे। गुसाईं जी का उनके चित्त में सतत ध्यान था ही उधर गुसाईं जी ने श्री नाथ जी की 'श्रृंगार' सेवा अर्थात दूसरी आरती के समय निर्धारित स्थान पर कीर्तन करते हुए सूरदास को न देख कर पूछताछ की तो मालूम हुआ कि सूरदास जी को परासौली की ओर जाते हुए देखा गया है। गुसाईं जी को विश्वास हो गया कि अब सूरदास का अन्त समय आ गया है और वे रासलीला की भूमि पर शरीर छोड़ने और नित्य लीला में सम्मिलित होने गए हैं। गुसाईं जी ने उपस्थित सेवकों से कहा — जाओ पुष्टिमार्ग का जहाज जा रहा है, जो जिसे लेना हो जा कर ले ले, मैं भी राजभोग की आरती के बाद आऊंगा, यदि भगवान की इच्छा हुई तो उस समय तक सूरदास बने रहेंगे। श्रृगांर की आरती के बाद श्री नाथ जी की गोचारण की आरती होती है और फिर दोपहर के बाद राजभोग की आरती। इतने समय तक गुसाईं जी को सूरदास की बराबर चिन्ता लगी रही, वे बार-बार किसी न किसी को भेज कर उनका हाल मँगाते रहे। जो लौट कर आता, यही बताता कि सूरदास अचेत अवस्था में पड़े हैं, कुछ बोलते ही नहीं हैं। वास्तव में सूरदास जी भी गुसाईं जी, श्रीनाथ जी और आचार्य महाप्रभु जी के ध्यान में प्रतीक्षा में पड़े थे।

राजभोग की आरती के बाद गुसाईं जी गोवर्धन से नीचे उतर कर परासौली की ओर चले। उनके साथ अनेक भक्त और सेवक भी चले, जिनमें वार्ताकार ने भीतर के सेवक रामदास और कुंभनदास, गोविंद स्वामी और चतुर्भजदास के नाम लिखे हैं।

सूरदास के पास पहुंच कर गुसाईं जी ने पूछा — सूरदास जी कैसे हो? सूरदास ने उन्हें दंडवत किया और कहा — महाराज ने पधारने की कृपा की, मैं तो महाराज आप की ही बाट देख रहा था। इतना कह कर उन्होंने यह पद गायाः-

प्रभु को देखौ एक सुभाइ।
अति-गंभीर-उदार-उदधि हरि, जान सिरोमनि राई।
तिनका सौ अपने जन कौ गुन, मानत मेरु-समान।
सकुचि गनत अपराध-समुद्रहिं, बूँदे तुल्य भगवान।

बदन-प्रसन्न कमल सनमुख ह्वै, देखत हौं हरि जैसे।
विमुख भए अकृपा न निमिष हूँ, फिरि चितयौं ता तैसैं।
भक्त-विरह-कासर करुनामय, डोलत पाछैं लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं, देहिं पीठि सो अभागे।

संसार से विदा होने के पहले सूरदास गुसाईं जी से भेंट करना चाहते थे। उनकी इच्छा पूरी हुई। इसे उन्होंने किस भाव से समझा, यह ध्यान देने योग्य है। गुसाईं जी सूरदास के गुरु नहीं थे, उम्र में वे सूरदास से 37 वर्ष छोटे थे। परन्तु सूरदास गुरु के रूप में ही उन्हें मानते थे और गुरु में उन्हें भगवान का रूप दिखाई देता था। भगवान की भक्त-वत्सलता असीम है। वे अपने भक्त को अपने से अधिक महत्व दे कर उसके गुणों को बढ़ा-चढ़ा कर मानते हैं और समुद्र के समान गंभीर अपराध को बूंद के बराबर मानने में भी संकोच करते हैं। भक्त की उनके प्रति जब अनुकुलता होती है, तब वे जिस प्रकार प्रसन्न-वदन दिखाई देते हैं, उसी प्रकार की प्रसन्न मुद्रा उस समय भी बनी रहती है, जब भक्त उनसे विमुख हो जाता है, उनकी अकृपा का भाजन वह तब भी नहीं बनता। भगवान स्वयं भक्त के विरह में उसके पीछे दौड़ते हैं (जैसे गाय अपने बछड़े के पीछे-पीछे दौड़ती है)। भला समुद्र के समान ऐसे गंभीर और उदार स्वभाव के प्रभु से कौन ऐसा अभागा होगा जो मुंह मोड़ ले ? सूरदास ने गुसाईं जी की कृपा को, जो उन्होंने उनके पास आ कर दिखाई, साक्षात प्रभु की ही कृपा माना।

गुसाईं जी सूरदास का आदर्श भक्ति-भाव देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सूरदास के इस आदर्श दैन्य को उनके ऊपर प्रभु की असीम कृपा का वरदान कह कर सराहा। उन्होंने कहा — ऐसे दैन्य के अधिकारी सूरदास ही हो सकते हैं।

गुरु के पद पर प्रतिष्ठित गुसाई जी के प्रति सूरदास के इस गंभीर भक्ति-भाव को देख कर पास में खड़े चतुर्भुजदास के मन में एक जिज्ञासा उठी। उन्हें स्मरण हो आया कि सूरदास ने भगवान के यश और उनकी लीला के वर्णन में असंख्य पद रचे, पर आचार्य जी महाप्रभु की प्रशंसा में उन्होंने कुछ भी रचना नहीं की। चतुर्भुजदास की यह शंका इस बात को जानते हुए और स्वाभाविक लगती है कि सूर को छोड़ का अष्टछाप के अन्य सभी कवियों ने आचार्य जी, उनके पुत्रों और पौत्रों को जन्म-बधाइयां और संस्कारों की.बधाइयां उनका नाम ले-ले कर रची है। सूरदास के ढाढ़ी के जिस पद के विषय में कहा गया है कि वह विट्ठलनाथ के जन्म-बधाई के रूप में रचा गया था, उस में भी संदेह हो सकता है, क्योंकि ढाढ़ी के पाँचों पदों में से किसी एक में भी कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य नाम का संकेत तक नहीं है। 'विट्ठल' और 'गिरधर' शब्द जिस पद में आए हैं, वह कदाचित अकेला पद होगा जिसमें श्लेषार्थ के बावजूद संभवतः उक्त दो व्यक्तिगत नाम आ गए हैं। अपनी शंका जब चतुर्भुजदास ने सूर के सामने रखी तो सूरदास बोले — मैंने तो जो कुछ रचा है, सब आचार्य महाप्रभु के यश के वर्णन में ही रचा है। यदि मैं आचार्य महाप्रभु के यश और भगवद्‌यश में कुछ भेद मानता, तब मैं दोनों का अलग-अलग वर्णन करता, मैं तो भेद मानता ही नहीं। फिर भी, तुम्हारे कहने पर कह रहा हूँ, सुनोः —

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ नख चंद छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरौ।

साधन और नहीं या कलि मैं जासौं होत निबेरौ।
सूर कहा कहै दुबिधि आँधरौ, बिना मोल को चैरौ।

सूरसागर में उक्त पद नहीं मिलता, हो सकता है सूरसागर की किसी हस्तलिखित प्रति में कहीं मिल जाय। परन्तु इस सारी कहानी का उद्देश्य गुरु के प्रति सूरदास के उच्च भाव को प्रकट करने के अलावा यह शिक्षा देना भी है कि गुरु का किस रूप में आदर करना चाहिए। संप्रदाय में गुरु-भक्ति को ही भगवद्भक्ति माना जाय, यह सिद्धांत इस कहानी के द्वारा अधिक पुष्ट होता है। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि सूरदास के मन में गुरु के प्रति अत्याधिक आदर का भाव था। मध्ययुग के सभी संत और भक्ति संप्रदायों में गुरु को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया था। कबीर का वह दोहा जिस में गुरु और गोविंद की तुलना में भक्त का असमंजस प्रकट करते हुए अन्त में गुरु की कृपा को ही अधिक महत्त्व दिया गया है, इस विषय में मध्ययुग की सामान्य विचारधारा व्यक्त करता है। सूरदास ने गुरु की महिमा का स्थान-स्थान पर स्मरण किया है, जैसे: —

अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ सतगुरु भे बतायौ।

तथा

गुरु बिनु ऐसी और करै?
माला-तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै।
भव-सागर तैं बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै।
सूर स्याम गुरु ऐसौ समरथ, छिन में लै उधरैं।

गुरु के प्रति कृतज्ञता का यह भाव निश्चय ही सूर का व्यतिगत भाव जान पड़ता है। बाल-वात्सहरण लीला के वर्णन में सूरदास ने कहा है: —

हरि लीला अवतार, पार सारद नहिं पावै।
सतगुरु-कृपा-प्रसाद कछुक तातैं कहि आवै।।

रास के प्रसंग में और भी अधिक स्पष्ट व्यक्तिगत रूप में सूरदास ने गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है: —

धनि सुक मुनि भागवत बखान्यौ।
गुरु की कृपा भई जब पूरन, तब रसना कहि गान्यौ।।
धन्य स्याम बृदांवन कौ सुख, संत मया तैं जान्यौ।
जो रस रास-रंग हरि कीन्हयौ, वेद नहीं ठहरान्यौ।
सुर-नर-मुनि मोहित भए सब ही सिवहुँ समाधि भुलान्यो।
सूरदास तहँ नैन बसाए, और न कहूं पत्यानौ।।

भगवान की प्रेम-भक्ति, जो वेदशास्त्र-सम्मत नहीं है और जिसके बिना भगवान की नित्य वृदांवन की आनंद-क्रीड़ा की अनुभूति नहीं हो सकती, गुरु की कृपा से ही सुलभ हो सकती है। सूरदास को

भी गुरु की कृपा से ही वाणी का वरदान मिला, जिससे वे भगवान के रास की आनंद-क्रीड़ा का वर्णन कर सके।

इसी प्रसंग में वे और अधिक स्पष्ट आत्म-कथन के रूप में कहते हैं: —

मैं कैंसे रस-रासहि गांऊ।
श्री राधिका स्याम की प्यारी, कृपा बास ब्रज पाऊं।
आन देव सपनेहुं न जानौं, दंपति कौ सिर नाऊं।
भजन-प्रताप, चरन-महिमा तैं गुरु की कृपा दिखाऊं।
नव निकुंज बन-धाम-निकट इक, आनंद कुटी रचाऊं।
सूर कहा बिनती करि बिनवै, जनम-जनम यह ध्याऊं।।

गुरु की कृपा से सूरदास को ब्रज-वास का सौभाग्य मिला। यह सौभाग्य भी गुरु की कृपा से ही मिला कि उनके मन में राधा-कृष्ण के प्रति अनन्य भाव की प्रेम-भक्ति दृढ़ हुई। यह भी गुरु की कृपा ही है कि सूर के हृदय में एक मात्र यही इच्छा रह गई कि जन्म-जन्मान्तर उन्हें यहीं, ब्रज में राधा-कृष्ण के नव-निकुंज, वन-धाम के निकट अपनी आनंद-कुटी बनाने का सौभाग्य मिलता रहे।

हम संकेत कर चुके हैं कि वल्लभाचार्य के समय में पुष्टिमार्ग ने माधुर्य भाव — राधा-कृष्ण और गोपी कृष्ण की दांपत्य प्रेम की निकुंज लीला के आधार पर कांताभाव नहीं अपनाया था। निंबार्क, गौड़ीय वैष्णव और राधावल्लभी संप्रदायों की तरह यह भाव गुसाइं विट्ठलनाथ के समय में पुष्टिमार्ग में भी अपनाया जाने लगा। वस्तुतः इस भाव को अपनाए बिना भक्ति का भाव-विकास अपनी तर्कसम्मत परिणति पर पहुंच ही नहीं सकता। सूर का काव्य इस बात का साक्षी है कि यह स्थिति सूर ने जितनी गंभीरता और सच्चाई के साथ समझी और स्पष्टता और विस्तार के साथ समझाई, उतनी किसी अन्य ने नहीं। भाव-विकास को इस परिपूर्णता पर पहुंचाने में वल्लभाचार्य के सूक्ष्म मार्ग-दर्शन के बाद संभवतः सब से अधिक सैद्धांतिक सहायता गुसाईं विट्ठलनाथ को मिली होगी। कम से कम 'वार्ता' के इस प्रसंग से ऐसा ही व्यंजित होता है। स्वयं सूरदास को किसी सैद्धांतिक आश्रय की — किसी संप्रदाय के समर्थन की — वास्तव में आवश्यकता भी थी, कहा जा सकता है, क्योंकि सूर ने गुरु का ऋण स्वीकारते हुए उनका नाम नहीं लिया, अन्यथा भी उनके काव्य में सांप्रदायिक दृष्टिकोण कहीं व्यक्त नहीं हुआ। जो हो, पुष्टिमार्ग के इस जहाज से, जो छूटने ही वाला था, चतुर्भुजदास के प्रश्न के फलस्वरूप गुरु-भक्ति का सर्वोच्च आदर्श तो मिल ही गया।

ऊपर उद्धृत रास संबंधी दो पदों से प्रकट है कि सूरदास अपने भक्ति-भाव की चरितार्थता किस रूप में चाहते थे, जीवन को चरितार्थ करने का उनका लक्ष्य क्या था।

आगे वार्ता में कहा गया है कि गुरु के विषय में ऐसा उच्च भक्ति-भाव प्रकट करते-करते सूरदास को मूर्च्छा आ गई। गुसाईं जी ने पूछा — सूरदास जी तुम्हारे चित्त की वृत्ति कहां है? उत्तर में सूरदास ने निम्नलिखित पद सुनाया: —

बलि-बलि-बलि हौं कुमरि राधिका नंद सुवन जासौं रति मानी।
वै अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि, प्रीति करी कैसे होत है छानी।
वै जु धरत तन कनक पीत पट सो तो सब तैरी गति ठानी।

ते पुनि स्याम सहज वै सोभा अंबर मिस अपने उर आनी।
पुलकित अंग अबहिं ह्वै आयौ, निरखि देखि निज देह सयानी।
सूर सुजान स्याम के बूझै प्रेम प्रकास भयौ बिहँसानी।।

सूरदास के चित्त की वृत्ति कृष्ण की आराधिका उनकी अभिन्न अर्धांगिनी राधा के ध्यान में रमी थी, उन राधा के ध्यान में जिन को यह सौभाग्य मिला कि स्वयं कृष्ण उनसे प्रेम करते हैं। दोनों एक-हृदय, अभिन्न होते हुए भी लीला के अभिप्राय से वे अपनी चतुराई के द्वारा प्रेम को छिपाते अवश्य हैं, पर प्रेम क्या छिपाए छिप सकता है? कृष्ण के श्याम शरीर पर धारण किया हुआ पीतांबर राधा के शरीर का ही तो प्रकाश है! राधा की ही सहज शोभा को तो कृष्ण ने पीतांबर के रूप में अपने उर पर धारण कर रखा है! सूरदास राधा को संबोधित करते हुए उनका इसी प्रकार ध्यान कर रहे हैं और उन्हें प्रत्यक्ष जैसा दिखाई दे रहा है कि राधा उनकी बातों को सुन कर — श्याम का ध्यान आते ही — पुलकित हो जाती है। श्याम का नाम लेने मात्र से उनका शरीर रोमांच से सिहर उठता है, कृष्ण के प्रेम का प्रकाश राधा की मुसकान के रूप में प्रकट हो जाता है।

सूरदास ने राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं के बीच-बीच अनेक स्थलों पर अनेक पदों में राधा और कृष्ण की एकता की घोषणा की है और कहा है कि ब्रज की लीला में दोनों प्रकटतः भिन्न रहते हैं, क्योंकि सूरदास को राधा के चरित्र में मधुर प्रेम-भक्ति का सर्वोच्च आदर्श चित्रित करना अभिप्रेत है। सूरदास ने राधा की प्रेमानुभुति की चरम दशा के अनेक चित्र दे कर जो यह दिखाया है कि कृष्ण का संयोग ही वस्तुतः राधा की सुन्दरता का मूल कारण है, उसकी एक झलक उक्त पद में भी दी गई है। जिस भाव में लीन हो कर राधा को ऐसी अनुभूति मिलती है, वही सूरदास का चरम लक्ष्य है।

गुसाईं विट्ठलनाथ ने बात को आगे बढ़ाया और पूछा — सूरदास जी, तुम्हारे नेत्र की वृत्ति कहां है? इस प्रश्न के उत्तर में सूरदास ने निम्नलिखित पद सुनाया: —

खंजन नैन सुरँग रस माते।
अतिसय चारु बिमल चंचल ये, पल पिंजरा न समाते।
बसे कहूं सोइ बात सखी, कहि, रहे इहाँ किहिं नाते?
चलि-चलि जात निकट स्रवननि के सकि ताकंट फँदाते।
सूरदास अंजन-गु अटके, नतरु कबै उड़ि जाते।।

'अखियां समय' और 'नैनन समय' के शीर्षकों के अंतर्गत सूरसागर में सैकड़ों पद मिलते हैं, जिनमें सामान्य रूप में गोपियों की कृष्ण-रूप के दर्शन की लालसा के संदर्भ में राधा के नयनों की कभी भी तृप्त न हो सकने वाली दर्शन-पिपासा और विकलता के अत्यंत मर्म-स्पर्शी चित्र दिए गए हैं। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि सूरदास ने राधा की सुन्दरता के वर्णन-चित्रण में उनके विशाल, दीर्घ, नुकीले, चंचल और चमकीले नयनों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इस में सूर की अपनी अन्धता से उत्पन्न सुंदरता के अवलोकन की तीव्र वासना के साथ कृष्ण के रूप-दर्शन को आदर्श रूप देने का भाव भी निहित है। कृष्ण को सामने, भर-आखें देखते हुए राधा को लगता है कि वे उन्हें देख ही नहीं पातीं। वस्तुतः भर-आंख देखें भी कैसे, क्योंकि पलक मुँद-मुँद जाते हैं और दृष्टि खंडित हो जाती है, जैसे, राधा का कथन है: —

बिधना चूक परी मैं जानी।
आजु गुविंदहिं देखि-देखि हौं, यहै समुझि पछितानी।
रचि-पचि सोचि, सँवारि सकल अंग चतुर चतुरई ठानी।
दृष्टि न दई रोम-रोमनि प्रति, इतनिहिं कला नसानी।
कहा करौं, अति सुख, द्वै नैना, उमँगि, चलत पल पानी।
सूर सुमेरु समाइ कहां लौं, बुधि-वासना पुरानी।

कृष्ण के रूप-दर्शन में राधा की अतृप्ति इस सीमा तक है कि वे चाहती हैं कि उनका रोम-रोम नेत्र हो जाता तो वह असीम शायद कुछ ठहरता। पर क्या करें ? नयन तो दो ही हैं और वे एक टक नहीं रहते, उनमें पानी भर आता है और पलक मुंद जाते हैं। कृष्ण की वह सुमेरु के समान रूप-राशि उनकी पुरानी बुद्धि-वासना में कैसे समा सकती है ?

राधा की यह विकलता वस्तुतः सूर की अपनी विकलता है जो उनके इस नश्वर संसार से प्रस्थान के समय घनीभूत हो गई थी। वे सोचते थे कि कैसे उस भाव की थोड़ी-सी अनुभूति उन्हें मिल जाय जो कृष्ण के संयोग के बाद उनको क्षणिक वियोग के समय उन्हें विकल कर देती है, उनकी सारी चेष्टाएं कुछ और ही, रहस्यमयी-सी हो जाती हैं। बाल्यावस्था में ही चोरी-छिपे कृष्ण से मिलने के बाद जब वे डरते-डरते अपनी माता के पास जाती हैं, तो प्रियतम का ध्यान आते ही, उनका जैसे काया-पलट हो जाता है। हरि के रंग में रँगी राधिका के रूप में कृष्ण का ध्यान धरते ही, ऐसी आभा आ जाती है, वे इतनी बदल जाती है कि स्वयं उनकी माता को भ्रम हो जाता है कि यह कौन है, क्या मेरी बेटी यही है ? सूर की भक्ति-भावना का चरम आदर्श यही है। वे सोचते रहे होंगे कि क्या राधा के भाव को प्राप्त करने और इस प्रकार जीवन को चरितार्थ करने का हमें कभी सौभाग्य मिलेगा।

वार्ताकार हमें बताता है कि उन्हें यह सौभाग्य मिला। गुसाईं जी ने जब पूछा कि तुम्हारे नेत्र की वृत्ति कहां है, तो जिस प्रकार चित्त की वृत्ति के विषय में पूछने पर उन्हें लगा था कि उनकी संपूर्ण संवेदना, चित्त की सभी वृत्तियां राधा के भाव में लीन हैं, उसी प्रकार नेत्रों की वृत्ति कहां है, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्हें अपना 'खंजन नैन सुरंग रस माते' पद याद आया। यह पद उन्होंने राधा-कृष्ण के संयोग-सुख के अनंतर राधा के नेत्रों की वृत्ति का वर्णन करने के लिए रचा था। राधा की एक अन्तरंग सखी, शायद चन्द्रावली, उनसे पूछती है—सखी बता तो सही, तेरे नेत्रों की वृत्ति कहां है ? तेरे ये खंजन के समान श्वेत-श्याम वर्ण, चंचल नयन जिनमें सुरंग रस (रति-रस) की मस्ती से उपजा सुरंग लालिमा भी प्रकट है, जो अतिशय रुचिर हैं, निर्मल हैं, चंचल हैं और इतने दीर्घ और विकल हैं कि पलकों के पिंजरे में समाते नहीं जान पड़ते, मानो उसे तोड़ कर उड़ जाना चाहते हैं—तेरे ये नयन, ऐसा लगता है कि यहां नहीं हैं, कहीं और बसे हैं। सच कह, सखी, ये कहां जाकर बस गये हैं, और फिर भी, यहां किस नाते रह गए दिखाई दे रहे हैं ? इनकी वही विलक्षण (कुछ और-सी ही) संज्ञा देखती हूं—ये यहां हैं भी और नहीं भी हैं। इनमें विकलता (चंचलता) और उदासी (अनमनाभाव) दोनों विरोधी जैसी कलाएं दिखाई दे रही हैं। अपनी चंचलता और विकलता में ये कानों तक फैले हुए विशाल नयन बारंबार कानों के निकट जाते हुए, ऐसा लगता है कि सोच रहे हों कि हम कानों के तांटक बड़ी वालियों—को फांद सकेंगे! ये खंजन-नयन तो, लगता है कब के उड़ गये थे। वास्तव में तो ये यहां कभी नहीं थे! ऊपर से ये जो

दिखाई दे रहे हैं उसका कारण यह है कि इन्हें अंजन के गुण (डोरी) से बांध कर यहां रखा गया है। सूर भी अब तक अंजन—मायामय संसार—की डोरी से ही तो बंधे थे।

वार्ताकार ने हमें विश्वास दिलाया है कि परम भगवदीय महात्मा सूरदास को भी अंततः यह सौभाग्य मिला कि उनके अन्धे नेत्रों की वृत्ति उसी परम सुंदर के रूप-दर्शन में लीन हो गई, नेत्रों के माध्यम से उनकी संपूर्ण संवेदन-शक्ति उसी परम आनंद के संसर्ग में एकाएक हो गई जिसकी आराधना में उन्होंने अपने जीवन के प्रति क्षण अपने अस्तित्व को सार्थकता देने के लिए गहरी अनुभूति में डुबोने का यत्न किया था। उनके नेत्र तो कहीं और—वहीं जहां रस-रंग का सागर लहराता है—सदा से बसे थे। वे तो प्रकट रूप में भी कभी यहां नहीं थे। साकार शरीर में निराकार रूप से यहां, संसार में उनके बसने का कभी भ्रम भी रहा हो, तो वह अब मिट रहा है। इस जीवन रूपी क्षणिक वियोग की अन्तिम घड़ी आ गई है।

वार्ताकार ने यहीं सूरदास की जीवन-कहानी समाप्त कर दी। उसने बताया है कि 'सूरदास अंजन गुन अटके न तरु कबै उड़ि जाते' कहते ही सूरदास के प्राण पखेरू उड़ गए, अंजन (माया) का गुण (बंधन) तोड़कर—मिट्टी का शरीर छोड़ कर—सरू भगवान की नित्य आनन्द लीला में सम्मिलित हो गए। वार्ताकार कहता है कि ऐसे कृपापात्र भगवदीय की वार्ता का हम पार नहीं पा सकते—कहां तक लिखें।

परम आनंदमयी नित्य लीला से सूरदास का यह जीवन-रूपी वियोग हमारी गणना से कितने वर्षों का था, इसका समाधान भी अन्त में, आज के तथ्य-खोजी जीवनी लेखक से मांगना स्वाभाविक है। हमने माना है कि सूर का जन्म अनुमानतः सन् 1478 ई० में हुआ था। अनुमानतः 1509 ई० में उन्होंने गऊघाट पर वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी। सूरदास की जीवनी का मुख्य आधार 'वार्ता' ही है। अतः यह मान कर कि उक्त विवरण के अनुसार सूर का गोलोकवास गुसाई विट्ठलनाथ के जीवन-काल में हुआ था, यह स्पष्ट है कि सूर गुसाईं जी के गोलोकवास, 1585 ई०, के पहले संसार छोड़ चुके थे। पीछे हमने यह अनुमान किया है कि 1566 से 1571 ई० के बीच या अधिक संभव है 1575-76 ई० में सम्राट अकबर ने सूरदास से भेंट की होगी। अतः अब यह अनुमान करना संगत है कि सूरदास की गोलोक-यात्रा सन् 1575-76 के बाद और 1585 ई० के पहले किसी समय हुई होगी। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि शतायु होने के बाद सूर ने 1580 ई० के आस-पास माया का यह संसार शरीर से भी छोड़ दिया। वास्तव में तो वे सांसारिक माया को कभी लिपटने ही नहीं देते थे, जहां कभी उसने घेरा डालने का यत्न किया, वहीं वे तुरंत उससे छिटक कर अलग हो गए। उससे सदा के लिए विदा लेने का समय इस जीवन के सौ वर्ष पूरे करने के बाद आया।

जीवन की यह अवधि कम नहीं है। इसे उन्होंने किस प्रकार सार्थक किया, इसका विवरण जितना संभव हो सका दिया जा चुका है। परंतु उसका वास्तविक विवरण तो उनकी उस काव्य की कमाई में है जिसे सागर—सूरसागर कहते हैं। 'सूरसागर' ही वास्तव में उनके जीवन की सच्ची कहानी है। पीछे कही गई उनकी तथाकथित जीवन-गाथा भी निश्चय ही उस कमाई की एक झलक देती है, क्योंकि कुशल 'वार्ताकार' ने, जिसके आधार पर मुख्यतः यह जीवन-गाथा लिखी गई है, 'सूरसागर' में प्रकट सूर के जीवन की सच्ची कहानी को बहुत कुछ समझ कर ही इसकी रचना की है। फिर भी, आगे हम संक्षेप में सूर के काव्य का परिचय देना इसलिए और जरूरी समझते हैं कि

उसके विषय में भी जैसा हमने पीछे एक जगह कहा है, मतभेद उठाए गए हैं और मतभेदों का मुख्य कारण यह भी है कि उस महान रचना का वास्तविक परिचय साधारणतया लोग कम ही प्राप्त कर पाते हैं।

10. सूरदास की रचना

वार्ता में बताया गया है कि सूरदास ने 'सहस्रावधि' पद रचे जो सागर कहलाए। सूर के काव्य के 'सागर' नाम के आरम्भ का इससे संकेत मिलता है। 'सागर' शब्द से विशालता और गंभीरता के साथ-साथ एक स्थान पर मिलकर इकट्ठा होने की सूचना मिलती है। जैसे बादलों से बरसा हुआ जल नदियों के माध्यम से बहकर सागर में इकट्ठा हो जाता है, उसी तरह सूर की वाणी से निकली काव्य की विभिन्न छोटी-बड़ी धाराओं का एक जगह एकत्रीकरण 'सूरसागर' नाम से प्रसिद्ध हो गया। 'सागर' के रूपक की व्याख्या यह नहीं हो सकती कि जिस प्रकार जल बूंदों के रूप में बरसता है और बूंदें एकत्र होकर प्रवाह बनती है, सागर में मिलती हैं, उसी प्रकार सूर का काव्य पदों की छोटी-छोटी इकाइयों में रचा गया, इन इकाइयों से छोटे-बड़े प्रसंगों के प्रवाह बने और फिर वे सब मिलकर सूरसागर की महिमामयी इकाई के रूप में एकत्र हो गए।

सूर के जीवन-काल में ही उनके पदों के अनेक संग्रह बने होंगे और यह क्रम आज तक बराबर चलता रहा। अपनी-अपनी रुचि, सामर्थ्य और पहुंच के अनुसार 'सूरसागर' के छोटे-बड़े रूप, उसके अंशों के भिन्न-भिन्न नामों से अलग-अलग लिखे-लिखाए जाते रहे। इन सभी रूपों की अलग-अलग परंपराएं चल पड़ीं और साथ-साथ नई परंपराएं भी बनती चली गई। हस्तलिखित रूपों में ही नहीं, छपाई का युग आरम्भ होने पर भी यह क्रम चलता रहा। साथ-साथ सवा लाख पदों की प्रसिद्धि भी चलती रही। इधर सूरदास का अध्ययन और उनके जीवन और रचना का अनुसंधान करने वालों की संख्या भी बढ़ती गई है। परन्तु जहां अनुसंधान से बहुत सी आवश्यक और उपयोगी बातों का निर्धारण करने में सहायता मिली, वहां इसी क्षेत्र में एक प्रकार की अतिशय गंभीर श्रद्धा भी उमड़ती दिखाई दी। 'सवा लाख' की बात पर भी कुछ विद्वान अड़ गए और इस पर भी अड़ गए कि सूरदास की रचना 'सूरसागर' मात्र नहीं है, उन्होंने दो ग्रंथ और रचे हैं—'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी'। इस विषय में गंभीर खंडन-मंडन होने लगा और वाद-विवाद छिड़ गया। हम भूल गए कि 'सूरसागर' को एक रचना मात्र कहना और उपर्युक्त दो अन्य 'ग्रंथों' की रचना का श्रेय उन्हें देना सूरदास की महत्ता बढ़ाने का कोई उपाय नहीं है। उक्त दो ग्रंथों का, जो बहुत छोटी-छोटी कृतियां हैं, 'वार्ता' और हरिराय किसी के द्वारा नाम तक नहीं लिया गया है। यदि कुछ विद्वानों के कहने से हम मान भी लें कि ये कृतियां सूर की ही हैं, तो वाद-विवाद में जीतने के क्षणिक सुख के अलावा यह सुख नहीं मिल सकता कि हमने सूर का गौरव बढ़ाने में कोई मदद की है। वास्तव में सूर के कवि-जीवन की कमाई 'सूरसागर' में ही एकत्र है। उसका आकार, विषय आदि क्या और कैसा है इसे अच्छी तरह जानना समझना ही सूर को जानने-समझने का असली सुख दे सकता है।

सबसे पहले कुछ भ्रमों को दूर करना आवश्यक है। सबसे पहले यह भ्रम दूर होना चाहिए कि 'सूरसागर' एक-एक करके फुटकर रचे गए कीर्तन के पदों का संग्रह मात्र है। हम यह जानते हैं कि उन्होंने फुटकर पद अवश्य रचे—पद-शैली में रचना का रूप फुटकर होता ही है फिर भी विनय और भक्ति संबंधी सामान्य पदों को छोड़कर असल में कोई पद फुटकर नहीं है, क्योंकि कृष्णलीला के सभी पद किसी न किसी प्रसंग से जुड़े हुए हैं, स्वतंत्र नहीं हैं।

ठीक इसके विपरीत एक-दूसरा भ्रम भी 'वार्ता' के आधार पर प्रचलित हो गया। 'वार्ता' में कहा गया है कि संपूर्ण भागवत की 'स्फूर्तना' होने के बाद सूरदास ने भागवत के प्रथम स्कंध से द्वादश

स्कंध पर्यंत पद रचे। इसके आधार पर सूरसागर को भागवत का द्वादश-स्कंधी रूप दिया गया। यद्यपि यह संदेहरहित रूप में प्रमाणित है कि 'सूरसागर' भागवत का अनुवाद क्या, छायानुवाद भी नहीं है और भागवत के और 'सूरसागर' के तथा निर्मित बारह स्कंधों की आकार, प्रकार और विषय-वस्तु में भारी असमानता है, फिर भी न केवल सूरसागर के बाहरी बारह-स्कंधी रूप के कारण, बल्कि इस कारण भी कि सूर ने निर्विवाद रूप में भागवत से अपने काव्य की आधार-वस्तु ली है, यह भ्रम प्रायः उभर-उभर आता है और सूर के काव्य को जानने-समझने में बाधा पहुंचाता है।

'वार्ता' के इस कथन ने भी कि आचार्य महाप्रभु ने सूरदास का 'घिघियाना' छुड़ा दिया था एक हलकी रूढ़ि को जन्म दिया है। 'घिघियाना' छुड़ाने वाली बात के बारंबार दुहराए जाने के कारण प्रायः यह समझा जाता है कि सूरदास ने कृष्ण-लीला वर्णन करना आरंभ करने के बाद विनय और दीनता से सदा के लिए छुट्टी ले ली थी, यानी उनके प्रायः सभी विनय संबंधी पद 31 वर्ष की उम्र तक रचे जा चुके थे। हम देख चुके हैं कि रूढ़ि को निकाल देने का कारण स्वयं 'वार्ता' में मौजूद है, क्योंकि वार्ता के सभी प्रसंगों में—गोलोक-वास वाले अंतिम प्रसंग में भी—सूरदास के कथन विनय के पदों के रूप में दिए गए हैं। फिर भी, एक बार जम जाने पर रूढ़ि अर्थहीन होकर भी प्रायः चलती रहती है।

इतना सब कह चुकने के बाद हम इस अत्यंत साधारण और सर्वमान्य कथन के साथ बात आरम्भ करते हैं कि 'सूरसागर' कृष्ण की ललित लीला का काव्य है—उस ललित लीला का जो जन-मानस में युगों से बसी और बढ़ती रही और जिसका कुछ ही अंश श्रीमद्भागवत तथा कुछ अन्य पुराणों में भिन्न-भिन्न रूपों में दिया जा सका। सूरदास ने उस ललित लीला को सबसे अधिक विस्तृत और संभवतः सबसे अधिक सुन्दर और सुसंबद्ध कथा-काव्य का रूप प्रदान किया। सूर ने उसे जो कथा-काव्य का रूप दिया, वही पिछले चार वर्षों से कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-काव्य का सबसे अधिक पुष्ट और उपजाऊ स्रोत रहा है।

'सूरसागर' की कृष्ण-लीला की भूमिका भक्ति के मूल भाव—दैन्य के द्वारा बनाई गई है। दैन्य का आधार है भगवान की असीम शक्ति में विश्वास और वह शक्ति सबसे अधिक प्रकट होती है दीनों, पतितों और पापियों का अकारण उद्धार करने में। शरणागत को वात्सलतापूर्ण संरक्षण देना ही भगवान की सबसे बड़ी विशेषता है। 'सूरसागर' उसी के गुणानुवाद से आरम्भ होता है। सूरदास बताते हैं कि हरि की कृपा से लंगड़ा पहाड़ लांघ जाता है, अंधे को (जैसे स्वयं सूरदास को) सब कुछ दिखाई देने लगता है, बहरा सुनने लगता है, गूंगा बोलने लगता है और रंक राजा हो जाता है।

इस भूमिका के बाद इस प्रस्तावना के साथ कि निर्गुण ब्रह्म की अनुभूमि मन-वाणी के लिए अगम्य है सूरदास—

बाल विनोद भावती लीला, अति पुनीत मुनि भाषी।
सावधान है सुनौ परीच्छित, सकल देव मुनि साखी।।

से आरंभ कर मथुरा में कृष्ण-अवतार का कारण सहित संक्षिप्त वर्णन करते हैं और उनके गोकुल में प्रकट होने का उल्लासपूर्ण वातावरण चित्रित करने लगते हैं।

मंगल-गान, बधाई आदि के साथ आरंभिक संस्कारों का अपने समय के अनुकूल चित्रण करते हुए सूर ने कृष्ण के शैशव और बाल्यावस्था का क्रमिक वर्णन किया है। बीच-बीच में कंस के भेजे हुए पूतना, श्रीधर, कागासुर, तृणावर्त आदि के आश्चर्यजनक संहार के वर्णनों द्वारा वे स्वाभाविकता में अलौकिकता का संकेत देकर वात्सल्य भाव को ऊंचा उठाते जाते हैं। साकार और सगुण के द्वारा निराकार और निर्गुण की भावना कराने के लिए यह आवश्यक है। वल्लभाचार्य ने स्नेह और माहात्म्य के सामंजस्य के जिस सिद्धांत का संकेत सूर की प्रशंसा में किया था, उसका अनुभव काव्य की उच्च भाव-भूमि पर ही हो सकता था, उपदेश के रूप में नहीं। सूरदास ने यही किया है। नीचे के पद में मुख में पैर का अंगूठा डालने की बच्चे की क्रीड़ा को देखकर सूर की कल्पना कहां से कहां पहुंच जाती है—

कर पग गहि, अंगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े, पालनै अकेले, हरषि-हरषि अपने रंग खेलत।
सिव सोचत, बिधि बुद्धि-बिचारत, बट बाढ़्यौ सागर, जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग दंतीनि सकेलत।
मुनि मन भीत भये, भुव कम्पित, सेष सकुचि सहसौ फन पेलत।
उन ब्रजबासिन बात न जानी, समुझे सूर संकट पग।।

शिशु कृष्ण के इस स्वाभाविक खेल को देख भले ही शिव और ब्रह्मा को भ्रम हो जाये और वे सृष्टि में प्रलय का दृश्य देखने लगें, भले ही पृथ्वी, आकाश, सागर, दिग्पति, शेष—सभी प्रलय की प्रतीक्षा करने लगें, परंतु ब्रजवासियों का स्नेह अडिग है, वे तो प्रलय के दृश्य को भी यही समझते हैं कि यह दृश्य शिशु कृष्ण के द्वारा पैर से ठेले हुए शकट के गिरने से उपस्थित हो गया है।

यशोदा और नंद तथा उनके स्वभाव और उम्र वाले ब्रजवासियों के मन के अनगिनत भाव भयानक और उल्टी परिस्थितियों में उत्तेजित हो जाते हैं और इनके द्वारा उनका वात्सल्य बढ़ता जाता है; कृष्ण उनके बीच बड़े होते जाते हैं। गोकुल में वात्सल्य का आनंद देकर सूर की कृष्णलीला वृंदावन की भूमि में पहुंचकर वात्सल्य के साथ सखाओं को मित्रता के प्रेम का प्रसाद बांटने चली जाती है। कंस के उपद्रव भी साथ चलते हैं, यद्यपि गोकुल छोड़ कर ब्रजवासियों के वृन्दावन जाने का कारण यही था कि वे कंस के उपद्रवों से बच सकें। यहां कृष्ण की लीला का क्षेत्र विस्तार पाता है। अब वे गउओं को दुहने और उन्हें चराने के लिए वन में ले जाने की क्रीड़ाएं भी करने लगते हैं। यहां भी उन्होंने खेल-खेल में ही अनेक असुरों का संहार किया, ब्रह्मा, इन्द्र और वरुण के भ्रम को दूर किया और कालिय का दमन और दावानल का पान करके सबको आश्चर्य में डाल दिया। सखा सोचते हैं कि उनका यह साथी बालक कौन है जो ऐसे-ऐसे काम करता है। परन्तु विस्मय की यह भावना उन्हें कृष्ण को पराया, अपने से दूर समझने के लिए मजबूर नहीं कर सकती। उनकी ग्रामीण सरलता के साथ कृष्ण की सहज मैत्री-भावना उनकी सहायता करती है और वे कृष्ण को अपना संगी सखा समझते रहते हैं। सहज भाव से कृष्ण अपने मित्रों को समझाते हैं:—

वृन्दावन मोकों अति भावत।
सुनहु सखा तम सबल श्रीदामा, ब्रज तें बन गौचारन आवत।

कामधेनु, सुर तरु सुख जितने, रमा सहित बैकुंठ भुलावत।
इहिं वृन्दावन, इहिं यमुना-तट, ये सुरभी अति सुखद चरावत।
पुनि पुनि कहत स्याम श्रीमुख सौं, तुम मेरे मन अतिहिं सुहावत।
सूरदास सुनि ग्वाल चकृत भये, यह लीला हरि प्रगट दिखावत।।

हरि की प्रकट लीला के संगी सखा गोचारण के खेलों में वन-धातुओं को इकट्ठा करने के साथ-साथ छाक (दोपहर बाद का भोजन) खाने, गउओं को हांकने, खेलते-कूदते, गाते और मुरली बजाते संध्या समय लौटने के हर्ष में इतने मग्न रहते हैं कि उन्हें नहीं लगता कि कृष्ण कभी उनसे दूर हो सकते हैं।

कालिय-दमन लीला सखाओं के साथ गेंद खेलने के प्रसंग में से ही निकलती है। सूर ने इस में स्वाभाविकता के साथ नाटकीयता का ऐसा प्रयोग किया है कि उनकी काव्य-कला देखते ही बनती है। परंतु है कला की यह सुन्दरता इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए ही है कि वात्सल्य और सत्य का अनुभव आश्चर्य और दीनता के सहारे लोक के साधारण अनुभव से ऊंचा उठ जाए। इस प्रसंग के अंत में एक चित्र है जिसमें यशोदा ललक कर कृष्ण को छाती से चिपका कर कहती हैं:—

लीन्हौं जननि कंठ लगाई।
अंग पुलकित, रोम गदगद, सुखद आंसु बहाइ।
मैं तुमहिं बरजति रही हरि, जमुन तट जनि जाइ।
कह्यो मेरौ कान्ह कियौ नहिं, गयो खेलन धाइ।

कृष्ण बड़े सरल भाव से उत्तर देते हैं:—

कंस कमल मंगाय पठए, तातैं गयउं डराइ।
मैं कह्यौ निसि सुपन तोसौं, प्रगट भयो सु आइ।
ग्वाल संग मिलि गेंद खेलन आयौ जमुन तीर।
काहु लै मोहिं डारि दीन्हों, कालिया-दह-नीर।
यह कही तब उरग मोसौं किन पठायौ तोहिं।
मैं कही नृप कंस पठयों कमल कारन मोहिं।
यह सुनत डरि कमल दीन्हौं, लियौ पीठि चढ़ाय।
सूर यह कहि जननि बोधी, देख्यौ तुम ही आइ।।

कालिय-दह से बच कर सही-सलामत बाहर आ जाना और साथ में कमल भी ले आना जिससे कंस के दंड का संकट दूर हो जाए, कैसे अचरज की बात है! परन्तु कृष्ण सरल माता को यह कह कर समझा देते हैं कि यह सब तो कंस के डर के कारण हो गया। यदि मैं यह न कहता कि मैं कंस का भेजा हुआ दूत हूं, तो क्या भयानक कालिय नाग मुझे जीवित लौटने देता और क्या मुझे कमल दे देता?

परन्तु, वृन्दावन-लीला का एक और आकर्षण है और वह हमें सूर के काव्य की सबसे अधिक उपजाऊ और विस्तृत-भाव भूमि की ओर ले जाता है। वह आकर्षण है कृष्ण का मुरलीवादन और

राधाकृष्ण और गोपीकृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाएं, जिनमें प्रेम का उदय, विकास और चरम सीमा का क्रमिक चित्रण हुआ है। 'सूरसागर' में माधुर्य भक्ति की इस भाव-भूमि ने उसके दो-तिहाई से अधिक भाग को भक्ति और काव्य के वैभव से अलंकृत किया है। ब्रज की गोपियां—किशोरी कुमारियां और नव-वधुएं जिनके मन में उम्र के कारण प्रमुख भाव 'काम' का भाव है, आरंभ से ही कृष्ण को उसी भाव से देखती है। कृष्ण ने केवल पांवों चलना सीखा है और यशोदा उन्हें अपने आंगन में ताली बजा-बजाकर नचाती हैं तभी से उक्त प्रकार की गोपियों को ब्रज के दर्शन उन्हीं के भाव से मिलने लगते हैं। एक गोपी कहती है :—

मैं देख्यौ जसुदा को नंदन, केलत आंगन बारौ री।
ततछन प्रान पलटि गयौ मेरौ, तन-मन ह्वै गयौ कारौ री।
देखत आनि संच्यौ उर अंतर, दै पलकनि कौ तारौ री।
मोहिं भ्रम भयौ सखी, उर अपने, चहुं दिसि भयौ उज्यारौ री।
जौ गुंजा सम तुलत सुमेरहिं, ताहू तैं अति भारौ री।
जैसे बूंद परत बारिधि मैं, त्यों गुन ज्ञान हमारौ री।
हौं उन माह कि वै मोहिं महियां, परत न देत संभारौ री।
तरु में बीज कि बीज मांह तरु, दुहुं में एक न न्यारौ री।
जल-थल-नभ-कानन-घर-भीतर, जहं लौं दृष्टि पसारौ री।
तितही तित मेरे नैननि आगैं, निरतत नंद दुलारौ री।
तजी लाज कुल-कानि लोक की, पति गुरुजन प्यौसारौ री।
जिनकी सकुच देहरी दुर्लभ, तिनमैं मूंड़ उघारौ री।
टोना-टामनि जंत्र-मंत्र करि, ध्यायौ देव दुवारौ री।
सासु-ननद-घर-घर लिए डोलतिं या कौ रोग बिचारौ री।
कहौं-कहा कछु कहत न आवै, और रस लागत खारौ री।
इनहिं स्वाद जो लुब्ध सूर सोई, जानत चाखन हारौ री।

कहना न होगा कि ऐसी तल्लीनता और गहराई इसी भाव में संभव है। इसी भाव में संभव है कि देख-देखते प्राण पलट जाएं और तन-मन 'काला' (कृष्णमय) हो जाए, आंखें मूंद कर उन्हीं के रूप का ध्यान लगाने की मजबूरी हो जाए और लगे कि चारों ओर उजाला ही उजाला हो गया है। यह भाव अनुभव कितना भारी और कितना गंभीर है! इसी भाव में यह संभव है, वात्सल्य स्नेह और मित्रता या दीनता में यह संभव नहीं है कि यह लगे कि मुझमें और उनमें अन्तर ही नहीं है और यह जानना कठिन हो जाए कि वे मुझमें है या मैं उनमें हूं, पेड़ में बीज है या बीज में पेड़ है। इस सत्य का अनुभव कि दोनों एक-दूसरे से न्यारे नहीं हैं, क्या और किसी भाव में संभव है? हर समय, हर जगह जहां कहीं देखें वहीं प्रिय कृष्ण दिखाई दें, यह दृष्टि इन गोपियों के अलावा और किसे मिल सकती है? लाज छोड़ने और कुल की मर्यादा को उखाड़ फेंकने, पति, माता-पिता, ससुराल के बड़े लोगों के सामने जिनके संकोच में घर से बाहर पैर रखना दुर्लभ है, सिर खोल कर निकलने की हिम्मत और किस भाव में हो सकती है? कृष्ण के ध्यान में इतना पागलपन आ जाये कि घर के

लोग समझने लगें कि इन्हें कोई रोग हो गया है और इस कारण वे टोना-टोटका कराने के लिए चिंता करें, किसी और भाव में संभव नहीं है। इस भाव के आनंद में और सब कुछ बेस्वाद और नीरस है। इस स्वाद को गोपी ही जानती है, और कोई नहीं।

सूर के कृष्ण भाव की मूर्ति हैं। जो जिस भाव से उन्हें देखता है, वे उसी भाव से उससे मिलते हैं। माखन-चोरी लीला में कृष्ण की सहज चंचल क्रीड़ाओं को वात्सल्यमयी यशोदा और 'काम' से पीड़ित गोपियां अपने-अपने भाव में देखती हैं तथा एक-दूसरे को नहीं समझ पातीं। गोपियां कृष्ण की शरारतों की शिकायतें लेकर यशोदा के पास आती हैं। यशोदा को लगता है कि ये लोग झूठी शिकायतें लेकर केवल इसलिए आती हैं कि इनका मन दूषित है, उस पर इनका अधिकार नहीं रहा; इसलिए ये बराबर कोई न कोई बहाना लेकर कृष्ण को देखने चली आती हैं। परन्तु यशोदा को आश्चर्य है कि ये तरुणी गवारिनें इतने छोटे बच्चे को समझती क्या हैं? उनके वात्सल्य-भरे मन में यह बात समाती ही नहीं कि पांच वर्ष का बालक ऐसी चोरी करेगा, जिसका दोष ग्वालिनें उस पर लगाती है। सच यह है कि कृष्ण पांच वर्ष के हैं और न बारह या बीस वर्ष के, वे तो देखने वाले की दृष्टि के अनुसार ही बड़े या छोटे दिखाई देते हैं। सर्व-सामान्य इतना ही है कि वे अत्यंत प्रिय हैं, विश्व-विमोहन हैं। एक गोपी इस रहस्य की झलक पाती जान पड़ती है, जब वह कहती है:—

देखौ माई या बालक की बात।
वन-उपवन-सरिता-सर मोहे, देखत स्यामल गात।
मारग चलत अनीति करत है, हठ करि माखन खात।
पीतांबर वह सिर तैं ओढ़त, अंचल कै मुसुकात।
तेरी सौं कहा कहौं जसोदा, उरहन देति लजात।
जब हरि आवत तेरे आगैं, सकुचि तनक ह्वै जात।
कौन-कौन गुन कहौं स्याम के, नैंकु न काहु डरात।
सूर स्याम मुख निरखि जसोदा, कहति कहा यह बात।।

यह गोपियों और यशोदा की दृष्टि का, उनके हृदय के भावों का ही भेद है, जिसके कारण कृष्ण का विश्व-विमोहन रूप अलग-अलग प्रकार का दिखाई देता है। गोपियों के मुख से कृष्ण की चंचलता-भरी शरारतें जब यशोदा सुनती हैं तो वे अचरज से गोपियों का मुंह देखती रह जाती हैं।

सामूहिक रूप से गोपियों को मोहने के साथ कृष्ण ने बचपन से ही राधा को विशेष रूप से मोहित किया। सूर ने राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन का बड़ा रोमांसपूर्ण वर्णन किया है। चकई-भौंरा का खेल खेलते हुए कृष्ण यमुना के किनारे जाते हैं, वहां अचानक राधा दिखाई दे जाती हैं। पहली नजर में ही दोनों एक-दूसरे पर रीझ जाते हैं।

मोर-मुकुट, कुंडल, पीतांबर और चंदन की खौर धारण किए, हाथ में लट्टू और डोर लिए कृष्ण खेलते-खेलते यमुना के किनारे पहुंच गए। वहां अचानक कुछ संगिनों के बीच बड़ी आंखों वाली, ऊंचे माथे पर रोली की बिंदी लगाए और नीले वस्त्र पहने हुए एक लड़की की ओर उनकी आंखें खिंच गईं। देखते ही उनका मन लट्टू हो गया। दोनों की आंखें एक-दूसरे के मन की बात बताने लगीं।

पहला प्रेम बराबर बढ़ता ही गया और किसी न किसी बहाने राधा और कृष्ण मिलते रहे और प्रेम की क्रीड़ाएं करते रहे। दोनों अपने सरल स्नेहमयी माताओं को अपनी सरल और अबोध बातों से समझाते रहे, जिससे उन्हें किसी प्रकार का संदेह न हो। राधा कृष्ण के यहां भी किसी न किसी बहाने से जाने लगीं। स्वाभाविक है कि यशोदा के मन में विचार पैदा हुआ कि इनकी जोड़ी बड़ी अच्छी रहेगी।

राधा और कृष्ण का यह गुप्त प्रेम शीघ्र ही गोपियों को मालूम हो गया। गाय दुहाने के बहाने एक बार राधा दूध का बर्तन लेकर यशोदा के यहां गई। यशोदा सोचने लगीं कि खंजन से भी चंचल 'जलज-जीत' नैनों वाली और चपला से भी अधिक चमक वाली यह लड़की उनके पुत्र का न जाने क्या करेगी। मन ही मन प्रसन्न होते हुए वे ऊपर से राधा को डांटती-फटकारती हैं और साथ ही यह भी कहती हैं कि मेरे घर आती रहा करो।

राधा और कृष्ण के इस प्रकार के संग-साथ का प्रभाव यशोदा से भी अधिक राधा की सखी गोपियों मर पड़ता है। वे राधा के भाग्य की सराहना करती हैं और सोचती हैं कि कृष्ण का यह प्रेम क्या उन्हें नहीं मिल सकता।

कृष्ण से गाय दुहा कर दूध का पात्र लेकर घर लौटते हुए राधा का मन बार-बार बिखर जाता है, आगे पैर ही नहीं बढ़ते, आखिर उन्हें एक उपाय सूझ जाता है। वे अचानक गिर पड़ती हैं और बहाना करती हैं कि काले सांप (सर्प) ने उन्हें काट लिया है। यह भूमिका वे अपनी माता से पहले ही बांध चुकी थीं कि यशोदा का लड़का, कृष्ण गारुड़ी है, यानी वह सांप का विष उतार लेता है। बस फिर क्या था, कृष्ण को बुलाया जाता है और कृष्ण मंत्र पढ़ कर मारते हैं और राधा को होश आ जाता है। राधा के सर से विष की लहर उतर जाती है, परन्तु राधा की सखियों पर राधा की चतुराई-चालाकी और गुप्त प्रेम का बहुत गहरा असर पड़ता है। कृष्ण ने राधा का विष उतारते हुए मुस्कराते हुए सखियों की ओर देखा और मानो राधा के सर से लहर उतार कर तरुणियों पर डाल दी। कृष्ण तो अपने घर चले गए, परन्तु गोपियों का जीवन-क्रम ही बदल गया। उनका मन उनके बस से बाहर हो गया, और उन सबने मिलकर निश्चय किया कि कृष्ण को पति-रूप में पाने के लिए शिव और सूर्य की आराधना करनी चाहिए।

नित्य प्रति यमुना में स्नान कर, शिव और सूर्य की पूजा करते हुए गोपियों की तपस्या से प्रसन्न होकर कृष्ण ने स्नान करते समय जल के भीतर ही प्रकट होकर उनके प्रेम को और बढ़ाया और अंत में यह परीक्षा लेने के लिए कि वे अपना सर्वस्व, यहां तक कि स्त्री का सबसे बड़ा भूषण, लज्जा भी कृष्ण के लिए विसर्जित कर सकती हैं या नहीं, कृष्ण ने उनके वस्त्रों का हरण किया और जब उन्हें इस परीक्षा में उत्तीर्ण पाया, तब एक वर्ष बाद उनके साथ रास करने का वचन दिया।

परन्तु गोपियों के प्रेम को बढ़ाते जाने के उपाय इस बीच भी चलते रहे। उन्होंने यमुना के तट पर एक नया खेल रचा। जो नवयुवतियां जल भरने आतीं उन्हें वे छेड़ते, उनका मार्ग रोकते, उनकी गागर फोड़ते, उनकी इंदुरी (सर पर गागर की टेक) छीनते और तरह-तरह से उनको उत्तेजित कर अपनी ओर उनका मन खींचते। स्वाभाविक है कि इन गोपियों में राधा की ओर कृष्ण सबसे अधिक आकर्षण दिखाते हैं। इस खेल का भी परिणाम यही होता है कि गोपियां कृष्ण पर सर्वस्व निछावर करने को तैयार हो जाती हैं। वे लोक-लज्जा को कांच के टुकड़ों की तरह त्याग कर कंचन रूप श्याम

को प्राप्त करना चाहती हैं; वे कुल की मर्यादा भूल कर अपना सच्चा पतिव्रत निभाना चाहती हैं, वे अपने प्राण नहीं गवांना चाहतीं, क्योंकि उनके प्राणों में कृष्ण बसे हुए हैं, उनका मन कृष्ण से हल्दी और चूने की तरह मिल कर एकाकार हो गया है—प्रेम के रंग में लाल हो गया है।

चीरहरण और पनघट लीला जैसी निकृष्ट लौकिक भावों को उत्कृष्ट बनाने के लिए रची गई लीलाओं का वास्तविक महत्व कहीं ओझल न हो जाये, इस कारण कृष्ण सामूहिक रूप में सभी ब्रजवासियों को अपनी ईश्वरता का आभास देने और अन्य देवी-देवताओं की उपासना छुड़ाने के उद्देश्य से गोवर्धन लीला करते हैं। इससे गोकुल के कुल-देवता इन्द्र की पूजा समाप्त हो जाती है और ब्रजवासियों के मन में अपने-अपने भाव के अनुसार कृष्ण के लिए प्रेम और अधिक दृढ़ हो जाता है। कृष्ण का प्रधान उद्देश्य प्रेम को दृढ़ करना ही है, अपने माहात्म्य का आभास तो वे केवल इसलिए देते जाते हैं, जिससे प्रेम कहीं सांसारिक प्रेम मात्र होकर न रह जाये। परन्तु माहात्म्य के ज्ञान से जहां कहीं प्रेम की गहराई में कमी आने का डर होता है, वहां कृष्ण तुरंत उसकी सुरक्षा का उपाय करते हैं। गोवर्धन लीला के अंत में सूरदास कहते हैं—

कहत नंद जसुमति सुनि बात।
अब अपने जिय सोच करति कत, जाके त्रिभुवन पति से तात।
गर्ग सुनाइ कही जो बानी, सोई प्रगट होति है जात।
इनतैं नहीं और कोउ समरथ, ये ई हैं सब ही के त्रात।
माया रूप लगाइ मोहिनी, डारे भुलै सबै जे गाथ।
सूर स्याम खेलत तैं आये, माखन मांगत दै मां हाथ।

सूरदास नंद और यशोदा को माहात्म्य-ज्ञान की उस स्थिति में नहीं पहुंचाते जहां वे कृष्ण को भगवान मान कर उनकी स्तुति करने लगें। उनके कृष्ण तुरंत अपनी सहज बाल-लीला के द्वारा माता-पिता को फिर वात्सल्य पूर्ण माता-पिता की स्थिति में पहुंचा देते हैं।

इस अंतराल के बाद राधा और गोपियों की प्रेम प्रसंगों की कथा फिर आगे बढ़ती है और कृष्ण दानलीला के खेल में गोपियों को मग्न करने लगते हैं। भूमिका के रूप में सूरदास बताते हैं कि भाव के वश में संग-संग डोलने वाले भक्त-वत्सल भगवान इस लीला के द्वारा 'काम' भाव से पीड़ित नवयुवतियों को हृदय से यह विश्वास करने का उपाय करते हैं कि कृष्ण से ऊपर कोई नहीं है, वे ही उनके सर्वस्व दान के अधिकारी हैं, कंस उनके आगे कुछ नहीं है, वह तो द्रव्य रूप में कर लेता है, परन्तु कृष्ण धन का नहीं तन-मन का सम्पूर्ण समर्पण चाहते हैं। काम भाव से प्रभावित होकर पतियों-प्रेमियों के साथ सांसारिक जीवन का निर्वाह किया जाता है। किंतु कृष्ण काम-नृपति के दूत हैं, वे गोपियों से सम्पूर्ण भाव-समर्पण चाहते हैं। दानलीला में कृष्ण और गोपियों के बीच लम्बी तकरार होती है। गोपियां कंस की दुहाई देती हैं, कृष्ण की महत्ता और ईश्वरता की खिल्ली उड़ाती हैं, गोवर्धन-धारण जैसे अचरज के कार्य तक को दुरदुराती हैं, कृष्ण के मुरली, मोर-पंख, काली कमरी वाले रूप की हंसी उड़ाती हैं। कृष्ण उन्हें व्यंग्य वाणी में समझाने का प्रयत्न करते हैं। काली कमरी के बारे में वे कहते हैं:—

यह कमरी कमरी करि जानति।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में, सो तितनी अनुमानित।

या कमरी के एक रोम पर वारौं चीर पटंबर।
सो कमरी तुम निंदती गोपी, जो तिहुं लोक अडंबर।
कमरी के बल असुर संहारे, कमरिहिं तैं सब भोग।
जाति-पांति कमरी सब मेरी, सूर सबै यह जोग।

काली कमरी कृष्ण की योगमाया है। इसका रहस्य जानना कठिन है। गोपियां जान तो नहीं पातीं, पर हृदय में अनुभव अवश्य कर लेती हैं।

गोपियां कृष्ण को नंद-यशोदा के पुत्र के रूप में ही जानती हैं। परन्तु कृष्ण उनसे कहते हैं:-

को माता को पिता हमारै।
कब जनमत हमकौं तुम देख्यौ, हँसियत वचन तुम्हारैं।
कब माखन चोरी करि खायौ, कब बांधे महतारी।
दुहत कौन की गइया चारत, बात कहौ यह भारी।
तुम जानत मोहिं नंद-ढुटौंना, नंद कहाँ तैं आये।
मैं पूरन, अबिगत, अविनासी, माया सबनि भुलाये।
यह सुनि ग्वालि सबै मुसुक्यानी, ऐसे गुन हौ जानत।
सूर स्याम जो निदर्यौ सबहीं, मात-पिता नहिं मानत।।

अव्यक्त, अविनाशी, अजन्मा, पूर्ण ब्रह्म के मुख से यह वक्तव्य सुन कर भी गोपियों के भाव में कोई परिवर्तन नहीं आता, यह दिखा कर सूरदास बताना चाहते हैं कि प्रेम-भक्ति अपने आप में पूर्ण है, वह अडिग है, महात्म्य का ज्ञान उसे खंडित नहीं कर सकता। गोपियां कृष्ण की बातें सुन कर कंस की दुहाई देती हैं और कृष्ण के दान (कर-यात्री-कर, जकात) के अधिकार को चुनौती देती हैं, तब कृष्ण उनका भ्रम दूर करने के लिए कहते हैं:-

तुम्हैं चित रजधानी नीकी।
मेरे दास-दास के चेरे तिनकौं लागति फीकी।
ऐसी कहि मोहिं कहा सुनावति, तुमकौं यहै अगाध।
कंस मारि सिर छत्र धरावौं कहा तुच्छ यह साध।
तबहिं लागि यह संग तिहारौ, जब लगि जीवत कंस।
सूर स्याम कैं मुख यह सुनि तब, मन-मन कीन्हौं संस।

सूरदास स्वयं राजधानी के निकट रहते हुए राजधानी से कितने विरक्त थे, इसका संकेत देने के साथ-साथ वे यह भी बताते हैं कि गोपी और कृष्ण की भिन्नता या द्वैतता जिसके कारण यह लीला संभव है, तभी तक है जब तक कंस है। कंस अहंकार का मिथ्या का-ही तो रूप है। गोपियां कृष्ण का मंतव्य नहीं समझ पातीं। कृष्ण से अलग होने की आशंका उन्हें चौंका देती है। गोपियाँ नहीं जानतीं कि वास्तव में कंस राजा नहीं है, राजा तो 'काम' है। उसी के शासन में यह विषय-वासना पूर्ण संसार चलता है। रूप और यौवन के धन पर इतराने वाली गोपियों के लिए कृष्ण उसी त्रिभुवन

पति — काम-नृपति के दूत बनते हैं जिसने नर-नारियों, और देव-जातियों के मन पर अधिकार कर रखा है। परन्तु कृष्ण के इन कथनों से नहीं, चंचल-चपल खेलों से और उनके सुंदर रूप के बरबस आकर्षण से प्रभावित होकर गोपियां, अन्त में, कृष्ण को आत्म-समर्पण कर देती हैं। यह आत्म-समर्पण मानसिक रूप में ही होता है। सूरदास कहते हैं:-

मन यह कहतिं देह बिसरायैं।
यह धन तुमहीं कों सँचि राख्यौ, इहिं लीजै सुख पायैं।
जीवन-रूप नहीं तुम लायक, तुम कौं देति लजातिं।
ज्यौं बारिधि आगैं जल-किनुका, विनय करति इहिं भांति।
अमृत-रस आगैं मधु रंचक, मनहिं करतिं अनुमान।
सूर स्याम सोभा की सींवां, तिन पटतर को आन।।

गोपियों की इस सम्पूर्ण समर्पण की भावना में विनयशीलता की जो पराकाष्ठा है, उसका कारण कृष्ण के बारे में उनका ऊंचा विचार है, उनके मन पर अनजाने ही पड़ा हुआ कृष्ण की ईश्वरता का प्रभाव है। परंतु कृष्ण की ओर उनके मन के खिंचाव का कारण उनकी ईश्वरता नहीं है, बल्कि उनकी असीम सुन्दरता है।

इस समर्पण के बाद गोपियों का मार्ग (जीवन का मार्ग) निर्द्वन्द और निरापद हो जाता है। गोपियां कृष्ण को प्रेम से माखन देती हैं और स्वच्छंदता से उसे खाने का न्यौता देती हैं। स्वाभाविक है कि राधा का माखन वे सबसे अधिक रुचि से खाते हैं। कृष्ण राधा को विश्वास दिलाते हैं कि मैं तुम से कभी अलग नहीं हो सकता:-

सुनहु बात जुवती इक मेरी।
तुमतैं दूरि होत नहिं कबहूँ तुम राख्यौ मोहिं घेरी।
तुम कांरन बैकुंठ तजत हौं, जनम लेत ब्रज आइ।
वृन्दावन राधा-गोपी सँग, यह नहिं बिसर्‍यौ जाइ।
तुम अंतर-अंतर कह भाषति, एक प्रान द्वै देह।
क्यौं राधा ब्रज बसें बिसारौं, सुमिरि पुरातन देह।
अब घर जाहु दान मैं पायौ, लेखा कियौ न जाइ।
सूर स्याम हँसि-हँसि जुवतिन सौं ऐसी कहत बनाइ।।

राधा और गोपियों को यह अनुभव हो जाने पर कि वे कृष्ण से अलग नहीं हैं, दोनों एक ही हैं, वे घर-बार से पूर्ण विरक्त हो कर एक मात्र कृष्ण में अनुरक्त हो जाती हैं।

दानलीला के बाद राधा-कृष्ण के गुप्त विहार के अनेक मनोहर दृश्य देखने को मिलते है जिनमें राधा की प्रेम-विवशता और प्रेम को छिपा कर रखने की कृष्ण की सीख के उदाहरण सूरदास के गूढ़, गोपनीय प्रेम-भक्ति के सिद्धान्त को प्रकट करते हैं। राधा कहती हैं कि सांसारिक माता-पिता की कृष्ण के सामने क्या गिनती? वे तो हाथी को मिटा कर गधे प्र चढ़ाना चाहते हैं, प्रभुता को मिटा कर हीनता करना चाहते हैं। राधा विनय करती हैं कि अब तक तो मैंने लोक-मर्यादा मानी, अब शेष

कुछ दिनों के लिए तो मुझे अपनी स्त्री बना कर रख लो। ऐसी कौन स्त्रियां हैं जो यह जानती हैं कि तुम बार-बार ब्रज में जन्म लेते रहते हो? कौन जानतीं हैं कि तुम अपने चरणों से मुझे भिन्न रखते रहे हो?

परंतु कृष्ण राधा को समझाते हैं कि किस कारण उन्हें अपना प्रेम गुप्त रखना चाहिएः-

देह धरे कों कारन सोई।
लोक-लाज कुल-कानि न तजियै, जातें भलों कहै सब कोई।
मातु पिता के डर कौं मानै, सजन कुटुंब सब सोई।
तात मातु मोहूं को भावत, तन धरि कै माया-बस होई।
सुनि बृषभानु-सुता मेरी बानी, प्रीति पुरातन राखहु गोई।
सूर स्याम नागरिहिं सुनावत, मैं तुम एक नाहिं हैं दोई।।

राधा और कृष्ण एक हैं, दो नहीं, इसका विश्वास तो राधा को पहले से ही है, परंतु कृष्ण की सीख मान कर वे आगे ऐसा आचरण करती हैं, जिससे उनका प्रेम भले ही छिपा न रह सका हो, गुप्त प्रेम की श्रेष्ठता अवश्य सिद्ध हो जाती है। 'सूरसागर' के सातवें अंश से अधिक में इस प्रेम का चित्रण काव्य के ऐसे वैभव के साथ किया गया है कि उसका उदाहरण दुर्लभ है।

प्रेम की पराकाष्ठा के इस चित्रण के बाद रासलीला में फिर कृष्ण गोपियां की परीक्षा लेते हैं और जानना चाहते हैं कि क्या उनमें अंहकार का कोई अंश अब भी बचा है, क्योंकि अहं और मम-मैं और मेरा-के पूर्ण विनाश के बाद ही भगवान पूर्ण रूप से मिल सकते हैं। पहली परीक्षा तो वे आरंभ में ही लेते हैं, जब मुरली की ध्वनि सुन कर माता-पिता, पति-पुत्र, घर-बार छोड़ कर रात में यमुना तट पर दौड़ते हुए आ कर एकत्र हुई गोपियों को वे उनके कर्तव्य की याद दिलाते हैं और धिक्कारते हैं कि वे कुलटा और पथ-भ्रष्ट हैं। गोपियां हैरान हो जाती हैं, अनुनय-विनय करती हैं और कहती हैं:-

आस जनि तोरहु स्याम हमारी।
बैनु-नाद-धुनि सुनि उठि धाई प्रगटत नाम मुरारी।
क्यौं तुम निठुर नाम प्रगटायौ, काहैं बिरद भुलाने?
दीन आजु हम तैं कोउ नाहीं, जानि स्याम मुसुकाने।
अपनैं भुज-दंडनि करि गहियौ, बिरह सलिल में भासी।
बार-बार कुल-धर्म बतावत, ऐसैं तुम अविनासी।
प्रीति वचन नौका करि राखौ, अंकम भरि बैठावहु।
सूर स्याम तुम बिन गति नाहीं, जुवतिनि पार लगावहु।

गोपियों की दीनता में उनके अहंकार के विनाश का प्रमाण पाकर कृष्ण संतुष्ट हो जाते हैं और उन से क्षमा मांग कर उनके प्रेम का आदर करते हैं और महारास के रूप में उन्हें परम आनंद का अनुभव प्रदान करते हैं। रास के नृत्य का आनंद मध्य में राधा और कृष्ण की जोड़ी के विराजने से वैसे ही अनेक गुना हो जाता है, परंतु सूर ने राधा और कृष्ण का गंधर्व विवाह रचा कर अपने राधा-कृष्ण काव्य को और व्यवस्थित और सार्थक बना दिया है।

आनंद के इस उच्छल प्रवाह में न चाहते हुए भी गोपियों को कुछ अभिमान हो ही गया। परंतु कृष्ण को किसी का गर्व सहन नहीं होता। अतः उन्होंने राधा के साथ अन्तर्धान हो कर दूसरी बार गोपियों के प्रेम की परीक्षा ली। आगे चल कर राधिका के भी मन में अपने अनन्य सौभाग्य पर अभिमान आ गया, कृष्ण उन्हें भी छोड़ कर अन्तर्धान हो गए और उन्हें भी अन्य गोपियों की तरह विरह में तपना पड़ा। इस परीक्षा में सफ़ल होने के बाद ही उन्हें महारास का निर्मल आनंद प्राप्त हो सका।

राधा-कृष्ण के रास-विहार और गंधर्व विवाह के बाद कृष्ण के ब्रज छोड़ कर मथुरा जाने तक की कथा राधा-कृष्ण के प्रेम की ही कथा है, जिसमें संयोग-विहार और मान-मनुहार के अनेकानेक प्रसंग एक के बाद एक कविता की सुन्दरता और प्रेम-भक्ति की गम्भीरता को खोलने और खिलाने का प्रयत्न करते दिखाई देते हैं। इन प्रसंगों का विस्तार संपूर्ण 'सूरसागर' के विस्तार के नवें अंश से अधिक हैं। इनमें राधा-कृष्ण की अभिन्नता — अद्वयता को दर्शाने के साथ-साथ यह भी दिखाया गया है कि प्रेम की पूर्णता हो जाने पर प्रिय स्वयं प्रेम की याचना करने लगता है। बात उलट जाती है और बार-बार राधा कृष्ण से रूठती हैं, कृष्ण उन्हें मनाते हैं, दूतियां भेजते हैं, विरह में तड़पते हैं और इस प्रकार प्रेम की महिमा का प्रमाण देते हैं। मानवती राधा की एक तिरछी चितवन से कृष्ण का हाल बेहाल हो जाता है। राधा के कामदेव के बाण की तरह चंचल, नुकीले नयन एक चितवन से ही कृष्ण के हृदय को बींध देते हैं जिससे कृष्ण व्याकुल हो कर इस प्रकार धराशायी हो जाते हैं, जैसे तमाल का तरुण वृक्ष आँधी के ज़ोर से गिर पड़े। कहीं उनकी मुरली है, कहीं लकुटी, कहीं पीताम्बर और कहीं मोर-चंद्रिका। विरह के सागर में वे क्षण-क्षण में डूबते-उछलते दिखाई देते हैं। प्रेम के आंसुओं से उनका पीताम्बर ऐसा भीग जाता है कि निचोड़ते-निचोड़ते फट जाता है। प्रातः काल न होने पर जैसे कमल मुँदा रहता है, वैसे ही न तो उनके मुख से बात निकलती है और न उनकी आँखें खुलती हैं। उनकी मूर्छा राधा के अधर-सुधा-रस से ही दूर हो सकती है।

मानिनी राधा को मनाने के लिए सखी कहती है —

समुझि री नाहिं न नई सगाई।
सुनि राधिके तोहिं माधो सौं, प्रीति सदा चलि आई।
जब जब मान कियौ मोहन सौं, विकल होत अधिकाई।
विरहानल सब लोक जरत हैं, आपु रहत जल-साई।
सिंधु मथ्यौ, सागर-बल बाँध्यो, रिपु रन जीति मिलाई।
अब सो त्रिभुवन-नाथ नेह बस, बन बाँसुरी बजाई।
प्रकृति-पुरुष, श्रीपति, सीतापति, अनुक्रम कथा सुनाई।
सूर इती रस रीति स्याम सौं, तैं ब्रज बसि बिसराई।

राधा और कृष्ण की अनादि, अनंत अभिन्नता के साथ सखी के माध्यम से सूरदास यह भी संकेत देते हैं कि यह सारा लोक कृष्ण-ब्रह्म से अलग हो कर विरह में जलता रहता है। स्वयं सूर को इस विराट विरह की अनुभूति थी और वे अंत समय में राधा का भाव अपना कर कृष्ण के साथ एकाकार हो जाने को विकल थे। प्रकृति और पुरुष, लक्ष्मी और विष्णु, तथा सीता और राम के अनुक्रम में

राधा और कृष्ण की अभिन्नता की जो कथा है वह वास्तव में रस-कथा है और सूर उसी का वर्णन करके कृतकृत्य हुए। ब्रज-वृन्दावन के संयोग सुख की यह लीला वसंत और हिण्डोल के उत्सवों में अपनी चरम सीमा पाती है और सारा ब्रज आनंद और रस में सारोबार हो जाता है, किसी प्रकार की कोई शंका नहीं रहती, कोई डर नहीं रहता।

परन्तु आनंद को अन्तिम सीमा पर पहुँचा कर प्रेम की यह अद्‌भुत कथा दूसरी ओर मुड़ जाती है। वही कृष्ण जो राधा के प्रेम के लिए इतने विकल थे, मथुरा से कंस द्वारा भेजे अक्रूर को देखते ही सब कुछ भूल कर मथुरा जाने को तैयार हो जाते हैं। उनके इस अचानक परिवर्तन को देखकर ब्रजवासी हैरान हो जाते हैं —

सुन्यो ब्रज लोग कहत यह बात।
चक्रित भये नारि-नर ठाढ़े, पाँच न आवै सात।
चक्रित नंद जसुमति भई चक्रित मन ही मन अकुलात।
दै दै सैन स्याम बलरामहिं, सबै बुलावत जात।
पारब्रह्म अविगत अविनासी माया रहित अतीत।
मनौं नहीं पहिचानि कहूं की, करत सबै मन भीत।
बोलत नहीं नैकुं चितवत नहिं, सुफलक सुत सौं पागे।
सूर हमैं हित करि नुप बोले, यहै कहत ता आगे।।

कृष्ण का यह वीतराग रूप — अव्यक्त, अविनाशी, मायातीत परब्रह्मत्व-ब्रजवासियों को विरह के महासागर में डूबते-उछलते छोड़ देता है। कृष्ण-बलराम मथुरा चले जाते हैं, उनका रूप, उनकी साज-सज्जा उनके सारे रंग-ढंग बदल जाते हैं। वे कंस के सहायकों को और स्वयं उसे मार कर अधर्म और अत्याचार का विनाश कर देते हैं। परन्तु सूर तो ब्रजवासियों के ही विरह-दुःख में अपनी आत्मा की तृप्ति पाते हैं। वे नंद, यशोदा, गोप-गोपियों और राधा की अपार दुःख से भरी एकरस और मलिन दिनचर्या के वर्णन द्वारा अपने काव्य का श्रृंगार करते हैं। एक यात्रिनी देवकी से यशोदा का संदेश कहती है —

जो पै राखति हौ पहिचानि।
तौ अब कै वह मोहनि मूरति, मोहिं दिखावहु आनि।
तुम रानी वसुदेव गेहिनी, हम अहीर ब्रजवासी।
पठै देहु मेरे लाल लड़ैतें, वारौं ऐसी हाँसी।
भली करि कंसादिक मारे, सब सुर काज किये।
अब इन गैयनि कौन चरावै भरि-भरि लेत हिये।
खान, पान, परिधान राज-सुख, जो कोउ कोटि लड़ावै।
तदपि सूर मेरो बाल कन्हैया, माखन ही सचु पावै।।

भले ही यह बात वास्तव में सच हो, और निःसन्देह सच है कि कृष्ण गोकुल-वृन्दावन में नंद-यशोदा के पास रह कर ही सच्चा सुख लेते और देते रहे हैं, परन्तु मथुरा में उनका रूप एकदम

बदला हुआ है। ब्रजवासी उन्हें पहचान तक नहीं पाते।

मथुरा से लौट कर गोप सखा कहते हैं —

ग्वारनि कही ऐसी जाइ।
भये हरि मधुपुरी राजा बड़े बंस कहाइ।
सूत मागध बदत बिरुदनि, बरनि वसुद्यौ तात।
राज-भूषन अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात।
मातु-पितु वसुदेव-देवै, नंद जसुमति नाहिं।
यह सुनत जल नैन ढारत, मींजि कर पछिताहिं।
मिली कुबिजा मलै लै कै, सो भई अरधंग।
सूर-प्रभु बस भये ताकैं, करत नाना रंग।

कृष्ण के इस नए रूप की ब्रजवासियों को क्या पहचान ? गोपियाँ भी सोचतीं हैं कि अब वे हमारे यहाँ कैसे आ सकते हैं, वे तो राजा हैं और हम गवाँर ब्रजवासी। परन्तु फिर भी ऐसा नहीं है कि कृष्ण के बदल जाने से गोपियां भी बदल जायं। विरह में उनका प्रेम तो निरंतर बढता ही जाता है। गोपियों का दुःख उनके संयोग सुख की तरह राधा में घनीभूत हो कर प्रकट होता है। राधा का एक चित्र है —

हरि कौ मारग दिन प्रति जोवति।
चितवत रहत चकोर चंद ज्यौं, सुमरि-सुमरि गुन रोवति।
पतियाँ पठवति मसि नहिं खूंटति, लिखि-लिखि मानहु धोवति।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, बृथा जनम सुख खोवति।

विरह के इस वर्णन में उद्धव के प्रसंग को सूरदास ने जो रूप और विस्तार दिया है, उसके दो उद्देश्य हैं। एक ओर तो कृष्ण ने सखा और दूत उद्धव के आगमन, उनकी निर्गुण उपासना की शिक्षा और उनके द्वारा प्रेम-भक्ति के निरादर ने गोपियों को और अधिक तीव्र रूप में प्रेम की अनुभूति और उसके प्रकट करने में सहायता और प्रेरणा दी और दूसरी ओर सूरदास ने इस माध्यम से प्रेम-भक्ति के मार्ग की सरलता, सहजता, और श्रेष्ठता को सिद्ध करने तथा अन्य मार्गों — ज्ञान, कर्म, तप, वैराग्य आदि का खंडन करने का अवसर निकाल लिया। सूर के उद्धव उनके युग के भक्ति-विरोधी, अथवा भक्ति-ब्रह्म धर्म-मतों के प्रतिनिधि हैं और सूरदास गोपियों के माध्यम से उन सब धर्म-मतों का खंडन करते हुए उद्धव का मुंह बंद कर देते हैं और भक्ति का अनुयायी बना देते हैं। गोपी-उद्धव संवाद के रूप में युग-धर्म और युग के विपरीत धर्म द्वन्द दिखाया गया है, जिसमें न केवल काव्य की आत्मा सुरक्षित रही है, बल्कि उस की मार्मिकता में अद्‌भुत वृद्धि हुई है। इस प्रसंग ने विरह की करुणा को हास्य-व्यंग्य के मिश्रण से और अधिक गहरा और चुटीला बना दिया है। सूर की गोपियों ने उद्धव को इतना बदल दिया कि मथुरा लौट कर वे स्वयं कृष्ण को राधा की दशा बताते हैं और कृष्ण से उनका दुःख दूर करने की वकालत करते हैं। वे कहते हैं कि विरहनी राधा को वस्त्राभूषण और श्रृंगार की सुध नहीं, वे इतनी दुर्बल हो गई हैं कि उनकी कलाई की कंगन उनकी

भुजा का टाँड़ (बाजूबंद) बन गया है। संदेशा देने के लिए वे उठीं तो उनसे चला नहीं गया। उनकी कमर की कर्धनी (छुद्रावली) खुल कर गिर पड़ी और उस में उनका पैर उलझ गया और वे स्वयं गिर पड़ीं। उनके मुंह से आवाज़ नहीं निकली, केवल उनकी आंखें भर आईं और वे रोने लगीं। ज्यों-ज्यों करके साहस बटोर कर वे उठ सकीं। वे जी केवल इस लिए रहीं हैं कि उन्हें हरि के मिलने की क्षीण आशा है।

ब्रज से लौट कर बदले हुए उद्धव को प्रेम की प्रशंसा करते देख कृष्ण को संतोष हुआ। उन्होंने बड़े दर्द के साथ ब्रजवासियों के प्रेम की याद की और उद्धव को बताया कि अब भी मेरा मन ब्रज में रमा हुआ है, मुझे यहाँ मथुरा में अच्छा नहीं लगता। परन्तु ब्रजवासियों को दर्शन देने की उद्धव की प्रार्थना मान कर वे अपने प्रेमियों की इच्छा पूर्ण नहीं कर सके और ब्रज वापस नहीं जा सके। मोर-मुकुट, पीताम्बर, वनमाल और मुरली से शोभित उनका ललित त्रिभंगी रूप ब्रजवासियों के मन में ही बसता रहा, वे उसे फिर कभी देख नहीं सके।

फिर भी एक बार मिलने का वचन कृष्ण ने अंत में पूरा अवश्य किया। राजनीतिक कारणों से उन्हें मथुरा छोड़ कर द्वारका जाना पड़ा — सैकड़ों मील दूर समुद्र के तट पर, जहां से संदेश पाना भी ब्रजवासियों के लिए स्वप्न की बात हो गई। परन्तु श्रीकृष्ण को तो अपना वचन निभाना ही था। कुरुक्षेत्र में सूर्य-ग्रहण के अवसर पर उन्होंने मिलने की योजना बनाई। ब्रजवासियों को संदेश भेजा गया। निर्धारित तिथि पर सब लोग एकत्र हुए। यह मिलन — अंतिम मिलन — अत्यंत मार्मिक था। एक ओर श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के राजसी साज-सामान और दूसरी ओर अकिंचन ब्रजवासियों की टोली। परन्तु श्रीकृष्ण के दर्शन पाना ही क्या कम सौभाग्य की बात थी ? कितनी बड़ी बात थी कि माधव ने उन्हें याद किया और मिलने के लिए बुलाया। उधर, रुक्मिणी को निरंतर यह जानने का कुतूहल था कि राधिका नाम की वह विशाल नयनों वाली गोपी कैसी होगी जिसने छोटी उम्र में ही मोहन को परम चतुर प्रेमी बना दिया था। रुक्मिणी के पूछने पर श्रीकृष्ण ने युवतियों के समूह में खड़ी हुई, नीले वस्त्रों वाली, गोरे रंग की राधा की ओर संकेत करके बताया और इस प्रकार रुक्मिणी और राधा का परिचय हुआ। दोनों को ऐसा लगा मानों एक ही पिता से उत्पन्न दो बहिनें बहुत दिनों बाद मिल रहीं हों — एक ही स्वभाव, एक ही उम्र और एक ही पति की प्रियाएं, दो शरीर और एक ही प्राण और मन. और अंत में राधा और माधव का मिलन हुआ —

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई।
माधव राधा के रँग रांचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई।
विहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहि कै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज-बिहार नित नई-नई।

ब्रजवासियों के इस अंतिम मिलन के साथ सूरदास के कृष्ण-काव्य — राधा-कृष्ण काव्य की वास्तव में समाप्ति हो जाती है।

हम देख चुके हैं कि जीवन के अंतिम क्षणों में सूर ने राधा के भाव को अपना कर श्री कृष्ण के

आनंद रूप में मिलने की आकांक्षा की थी। उनके काव्य और उनके जीवन का इस प्रकार एक ही लक्ष्य था। अपने काव्य की समाप्ति के ही रूप में वे अपने जीवन का अंत चाहते थे और वार्ताकार ने हमें संकेत दिया है कि उनकी इच्छा पूरी हुई और वे संसार से मुक्त हो कर भगवान की आनन्द लीला में सम्मिलित हो गए।

इस प्रकार सूरदास ने कृष्ण लीला के वर्णन के द्वारा वास्तव में अपने ही जीवन की कथा कही है। सूरदास ने एक दीन, अकिंचन शरणागत भक्त के रूप में यशोदा, नन्द गोप सखा — सुबल सुदामा आदि — और गोपियों के भावों को अपना बना कर नाना प्रसंगों और परिस्थितियों की कल्पना करते हुए आत्म-निवेदन ही किया है। इतने विविध प्रकार से, इतनी चित्तवृत्तियों को उत्तेजित करते हुए आत्म-निवेदन करना सूर जैसे एक महान कवि के ही बस की बात थी। और, सूर के ही सामर्थ्य की बात थी कि उन्होंने राधा के रूप में आराधिका और आराध्या दोनों को एक साथ ही चित्रित कर दिया। और यह उनके अत्यन्त विनयपूर्ण आत्म-विश्वास की ही बात थी कि उन्होंने राधा के आराधिका और करुणप्रेमिका के भाव को अपनाने का साहस किया।

सूर का यह साहस एक सच्चे भक्त और महान कवि का साहस है। राधा और माधव की भेंट के रूप में एक करुण कथा का सुखद अंत सूर जैसा आत्म-विश्वासी कवि ही कर सकता है। इसी कारण उनके जीवन की कहानी का भी अन्त वार्ताकार ने परम आनंद की प्राप्ति के रूप में किया है।

परंतु सूर की जीवन-कथा और सूर द्वारा वर्णित राधा-कृष्ण की कथा, जैसा कि कुछ लोगों ने प्रचार किया किया है, व्यक्तिगत, एकांत साधना करने वाले, सामाजिक जीवन से विरक्त भक्त की कथा और उसकी भावना की उपज नहीं है। उनकी युग-चेतना की बात हम पीछे कर चुके हैं। वास्तव में, सूर की जीवन कथा और उनकी कृष्ण-कथा उस युग के जीवन को नए मूल्य, नया उद्देश्य और नया आदर्श देने की दिशा बताती है। वह बताती है कि किस प्रकार मनुष्य अपनी संपूर्ण चित्तवृत्तियों को, अच्छी-बुरी सभी भावनाओं को भगवान में समर्पित करके संसार में निर्द्वन्द और निश्चित हो कर रह सकता है और किस प्रकार वह प्रेम के मार्ग पर चल कर अखंड, अद्वितीय आनन्द को पा सकता है।

गीता में आत्म-समर्पण का जो संदेश दिया गया है, सूर ने काव्य के माध्यम से उसी का व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत किया। कृष्ण की प्रेम-कथा जो आज भी जन-समाज में व्याप्त है, उसका सबसे अधिक श्रेय सूरदास को ही है। और, जब हम देखते हैं कि हिंदी काव्य का एक बहुत बड़ा अंश, शायद सबसे बड़ा अंश, सूर के कृष्ण काव्य का ऋणी है, तब हम समझ पाते हैं कि आत्म-विज्ञापन से ही दूर नहीं, बल्कि आत्म को विलय करने की सच्ची भावना वाला यह कवि सचमुच कितना महान था।

INDIAN INSTITUT
Acc. No. 91309
Date 23-2-99

डिसेन्ट आफसेट, ए 73 नारायणा इन्डस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।

सूरदास की गणना उन महाकवियों और महात्माओं में होती है, जिन्होंने इस देश के सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है। सूरदास कृष्ण भक्ति शाखा के प्रतिनिधि एवं श्रेष्ठ कवि हैं और अष्टछाप के कवियों में उनकी गणना सर्वप्रथम होती है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उन्हें पुष्टि मार्ग में दीक्षित किया था। सूरदास ने कृष्ण की लीलाओं का जो वर्णन किया है, वह साहित्य में बेजोड़ है। ऐसा लगता है कि उन्होंने हिन्दी साहित्य में प्रेम, सौंदर्य और आनन्द का अथाह सागर उंडेल दिया हो।

सुप्रसिद्ध विद्वान डा० व्रजेश्वर वर्मा ने तीन-चार उपन्यासों के अतिरिक्त 'हिन्दी के वैष्णव कवि', 'सूर मीमाँसा', आदि पुस्तकें लिखी हैं। हिन्दी साहित्य (दो भाग) और हिन्दी साहित्य कोश (दो भाग) के सह-संपादक और लेखक रहे हैं। 1945 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने इनका सूरदास पर शोध-प्रबन्ध स्वीकार किया था और अब तक उनके चार संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

रु. 8.50

नेशनल बुक ट्रस्ट,

Library IIAS, Shimla
H 811.22 Su 77 S
00091309